जगद्गुरु स्वामी श्री रामानंद जी द्वारा विरचित

श्री अध्यात्म रामरक्षा विमर्श

श्री श्री स्वामी अभिरामदास जी त्यागी

संकलनकर्त्री

अमिता शाह

श्री सीताराम जी
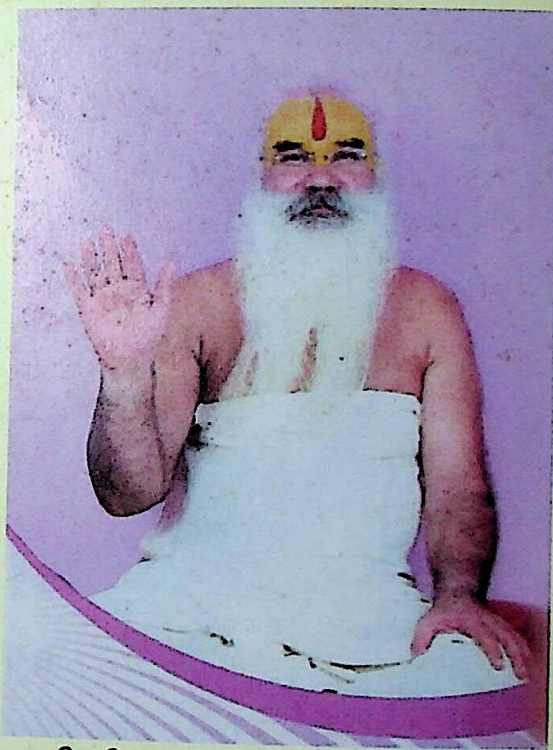
श्री श्री १००८ महामंडलेश्वर श्री महंत
स्वामी अभिरामदास जी (हिमालयवासी)
हनुमान गुफा, केदारनाथ, उत्तराखंड

श्री अध्यात्म रामरक्षा विमर्श
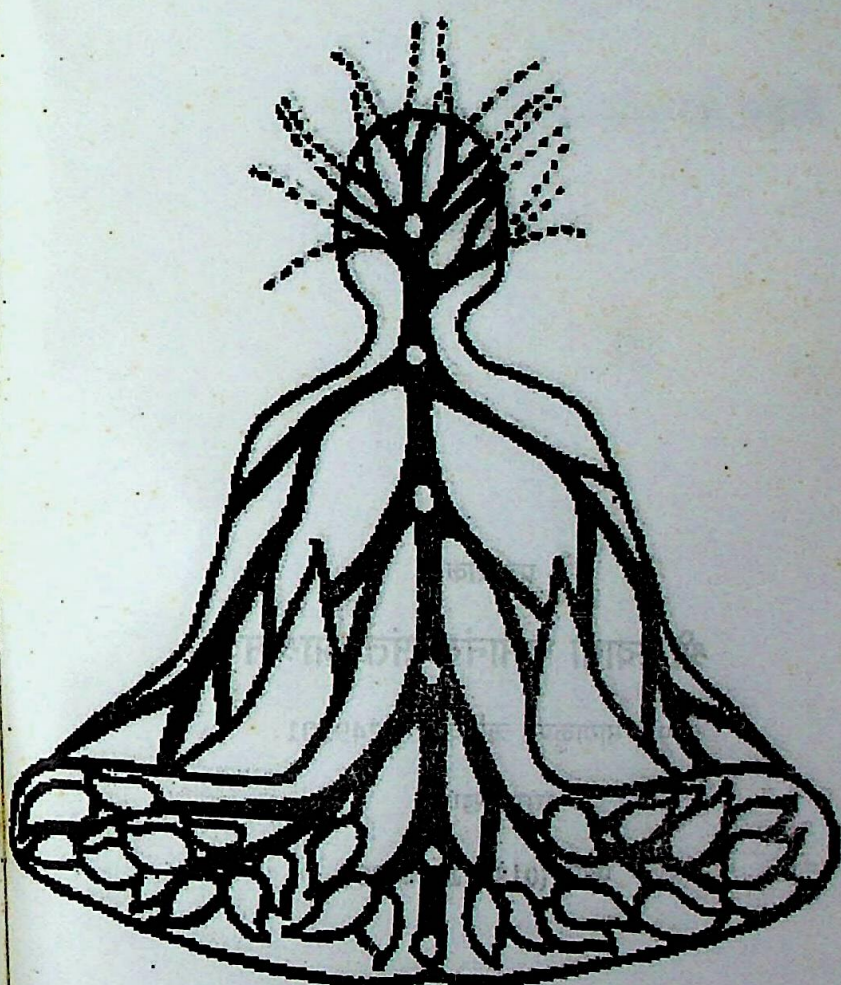
श्री श्री स्वामी अभिरामदास जी त्यागी

प्रकाशक :

श्री स्वामी रामानंद संत आश्रम

93, मायाकुण्ड ऋषिकेश - 249201

(उत्तराखण्ड)

फोन: (0135) 2436406

जगद्‌गुरु स्वामी श्री रामानंद जी द्वारा विरचित

श्री अध्यात्म रामरक्षा

विमर्श

श्री श्री स्वामी अभिरामदास जी त्यागी

संकलनकर्त्री

अमिता शाह

प्रथम संस्करण : 2014

प्रकाशक / सर्वाधिकार : श्री स्वामी रामानंद संत आश्रम
93, मायाकुण्ड ऋषिकेश - 249201
(उत्तराखण्ड)

अक्षर-संयोजक : रेखा भटनागर

SHREE ADHYATM RAMRAKSHA

by Shree Shree Jagadguru Swami Ramanand Ji

Interpretation : Shree Shree Swami Abhiramdas Ji Tyagi

अनुक्रम

1 प्राक्कथन 7

2 भूमिका 9

3 श्री अध्यात्म रामरक्षा 27

4 अनुष्ठान विधि 31

5 श्री अध्यात्म रामरक्षा विमर्श 35

चक्रों की स्थिति
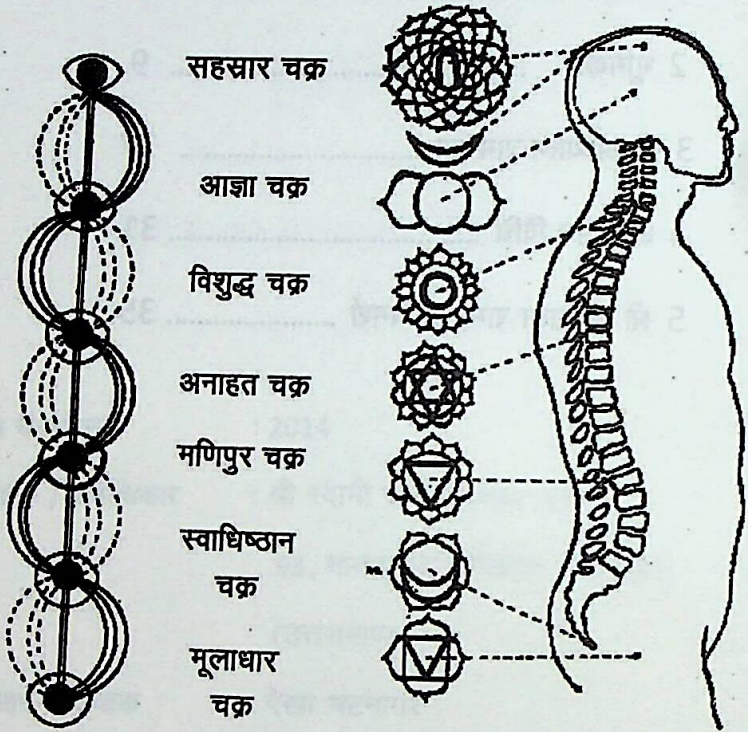
सहस्रार चक्र
आज्ञा चक्र
विशुद्ध चक्र
अनाहत चक्र
मणिपुर चक्र
स्वाधिष्ठान चक्र
मूलाधार चक्र

प्राक्कथन

परम पूज्य श्री सद्‌गुरुदेव के चरणकमलों में कोटिशः कोटि प्रणाम ! अनंतश्री विभूषित, जगद्‌गुरु स्वामी श्री रामानंदाचार्य जी के श्रीचरणों में अनंत कोटि प्रणिपात । अखिल ब्रह्मांडनायक, सकल सृष्टि को धारण करने में सर्वसमर्थ, परम कृपालु परमात्मा श्री सीताराम जी के चरणकमलों में कोटि-कोटि नमन !

सद्‌गुरुदेव ने श्री अध्यात्म रामरक्षा के विषय में लिखने के लिये मुझे निमित्त बनाया और अपनी कृपा का भागी बनाया, इसलिये आभार व्यक्त करने के लिये मेरे पास कोई शब्द नहीं हैं। वैसे भी बुद्धि को प्रेरित करनेवाले और लिखवानेवाले हमेशा वे ही होते हैं, परंतु इस बार तो स्वामी जी की कठिन भाषा और अति गहन हठयोग का विषय समझने की मेरी अक्षमता को देख परम पूज्य श्री गुरुदेव जी ने ही "अध्यात्म रामरक्षा" को समझाने की कृपा की है। मैंने पूरी कोशिश की है कि उनके शब्दों को शब्दशः प्रस्तुत करूँ, परंतु श्री सद्‌गुरुदेव की कृपा को मेरी अल्प बुद्धि जितना ग्रहण कर सकी, उसे आप सबके सम्मुख पुस्तक के रूप में प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है । परम पूज्य श्री सद्‌गुरुदेव और स्वामी जी की कृपा हम सब पर इसी प्रकार निरंतर बरसती रहे, ऐसी उनके श्री चरणों में प्रार्थना करती हूँ ।

जगद्‌गुरु श्री स्वामी रामानंदाचार्य विरचित श्री अध्यात्म रामरक्षा के महत्त्व को अध्यात्म पथ पर चलनेवाले साधकों के लिये अति महत्त्वपूर्ण पाथेय के रूप में समस्त समाज ने स्वीकार किया है । यद्यपि उसकी भाषा हिन्दी ही है, तथापि सामान्य जनसमूह की समझ से वह परे है क्योंकि उसका विषय अति गहन साधना-पथ का वर्णन है। परमात्मा की प्राप्ति के लिये हठयोगी को उपयोगी साधना-पद्धति और प्राप्ति का विस्तृत वर्णन स्वामी जी ने इस विमर्श के माध्यम से किया है ।

हठयोग को परमात्मा की शरणागति के साथ जोड़ कर योगमार्ग और भक्तिमार्ग का अद्‌भुत सम्मिश्रण करते हुए साधक के लिये सरल और साथ-साथ निश्चित फल देनेवाले मार्ग को स्वामी श्री रामानंदाचार्य जी प्रस्तुत करते हैं। उसका एक-एक शब्द अभिमंत्रित और प्रबल ऊर्जावान है । इसलिये मात्र रटते हुए, बिना सोचे-समझे पाठ करनेवालों को भी वह अद्‌भुत

फल देता है । क्योंकि स्वामी जी की संकल्प शक्ति और साधकों के प्रति करुणा उसमें अलौकिक कार्य करती है ।

स्वामी जी जानते हैं कि इस घोर कलिकाल में साधना करनेवाले ही बहुत कम लोग होंगे । जो होंगे उन साधकों के लिये किसी भी प्रकार की साधना में प्रवृत्त होना अति दुष्कर होगा। चारों ओर फैला निरंतर बढ़ता हुआ वैचारिक प्रदूषण, साधक को साधना के पथ पर चलने में ही अनेक बाधाएँ खड़ी करता जा रहा है। यदि कोई सरल और निश्चित फलदायी उपाय साधकों को नहीं मिलेगा, तो जो थोड़े-बहुत साधक साधना में प्रवृत्त हैं, वे भी निराश हो जाएँगे। उन जीवों पर करुणा करते हुए स्वामी जी ने इस अध्यात्म रामरक्षा की रचना की है ।

श्री अध्यात्म रामरक्षा का विषय अति गहन है। मैं अब तक मानती रही कि योग के विषय में थोड़ा-बहुत जानती हूँ । परंतु जब गुरु-आज्ञा से अध्यात्म रामरक्षा के विषय में लिखने बैठी तब मुझे पता चला कि उसकी बहुत बातें तो मेरी समझ से बाहर हैं । इसलिये श्री गुरुदेव के चरणों में ही निवेदन किया कि आप ही इसके विषय में हमें समझायें । तब श्री गुरुदेव ने अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र के एक-एक श्लोक को विस्तारपूर्वक समझाया । उन प्रवचनों को सुनकर, जो मेरी समझ में आया, उसे शब्दों का रूप दिया है, जो इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रहा है । उस से श्री सद्‌गुरुदेव की असीम कृपा करुणा का लाभ समस्त समाज को प्राप्त हो सकेगा । हो सकता है इसमें कोई त्रुटि रही हो, उसके लिये सुविज्ञ साधकों से क्षमा की अपेक्षा रखती हूँ । उनसे मैं प्रार्थना करती हूँ कि मुझे उससे अवगत कराएँ। इति ...!

।। श्री सद्‌गुरुदेव भगवान की जय ।।

।। श्री स्वामी रामानंद जी महाराज की जय ।।

।। जय श्रीराम ।।

निवेदिका,

अमिता शाह
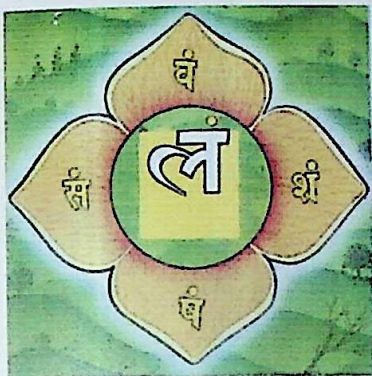
यौगिक नाम - मूलाधार योग चक्र

अंग्रेजी नाम - Prennal Plexus

दल - चतुः दल, बीज मंत्र - लं

दलों के अक्षर - वं, शं, षं, सं

यंत्र - चतुष्कोण, वर्ण - पीला

वाहन - ऐरावत, गुण - गंध

देव - ब्रह्मा, देव शक्ति - डाकिनी

ज्ञानेन्द्रिय - नासिका, लोक - भूः

कर्मेन्द्रिय - गुदा, तत्त्व - पृथ्वी

स्थान - मेरुदंड के सबसे निचले भाग में सिवनी नाड़ी के पास गुदा से चार उँगली ऊपर

ध्यान सिद्धि - आरोग्यता, सम्पूर्ण स्वास्थ्य, पृथ्वी तत्त्व के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान, भार वहा [illegible], वाक्य शक्ति आदि

यौगिक नाम - स्वाधिष्ठान योग चक्र

अंग्रेजी नाम - Hypogastric Plexus

दल - षट दल, बीज मंत्र - वं

दलों के अक्षर - बं, भं, मं, यं, रं, लं

यंत्र - चंद्राकार, वर्ण - श्वेत

वाहन - मकर, गुण - रस

देव - विष्णु, देव शक्ति - राकिनी

ज्ञानेन्द्रिय - जिह्वा, लोक - भूवः

कर्मेन्द्रिय - लिंग, तत्त्व - जल

स्थान - पेडू

ध्यान सिद्धि - पंच विकार का नाश, गद्य-पद्य का ज्ञान, जल सिद्धि, जल तत्त्व का पूर्ण ज्ञान

यौगिक नाम - मणिपुर योग चक्र

अंग्रेजी नाम - Solar Plexus

दल - दश दल, बीज मंत्र - रं

दलों के अक्षर - डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं

यंत्र - त्रिकोण, वर्ण - लाल

वाहन - मेष, गुण - रूप

देव - वृद्ध रुद्र

देव शक्ति - लाकिनी

ज्ञानेन्द्रिय - चक्षु, लोक - स्वः

कर्मेन्द्रिय - चरण, तत्त्व - अग्नि

स्थान - नाभि

ध्यान सिद्धि - सृष्टि रचना व उत्पत्ति, पूर्व जन्म और भाषा विज्ञान का ज्ञान, तत्त्व की सिद्धि आदि

यौगिक नाम - अनाहत योग चक्र

अंग्रेजी नाम - Cardiac Plexus

दल - द्वादश दल, बीज मंत्र - यं

दलों के अक्षर - कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं

यंत्र - षट्कोण, वर्ण - हरा

वाहन - मृग, गुण - स्पर्श

देव - ईशान रुद्र

देव शक्ति - काकिनी

ज्ञानेन्द्रिय - त्वचा, लोक - महः

कर्मेन्द्रिय - कर, तत्त्व - वायु

स्थान - हृदय

ध्यान सिद्धि - महत्त्व आनंद, श्रद्धा का उदय, विभिन्न योग शक्तियाँ, अनन्त नाद को सुनने की, परकाया प्रवेश की एवं वायु सम्बंधि सिद्धियाँ आदि

यौगिक नाम - विशुद्ध योग चक्र
अंग्रेजी नाम - Carotid Plexus
दल - षोडश दल, बीज मंत्र - हं
दलों के अक्षर - अ से अः तक
यंत्र - गोलाकार, वर्ण - हल्का नीला (धूम्र वर्ण)
वाहन - हाथी, गुण - शब्द
देव - पंच वक्त्र
देव शक्ति - शाकिनी
ज्ञानेन्द्रिय - कर्ण, लोक - जनः
कर्मेन्द्रिय - वाक्, तत्त्व - आकाश

स्थान - कण्ठ
ध्यान सिद्धि - वाणी सिद्धि, आकाश तत्त्व सम्बंधि सिद्धियाँ, शून्य ब्रह्म व शब्द ब्रह्म का ज्ञान, संगीत सद्धि, प्रखर विद्वत्ता, आयु वृद्धि आदि

यौगिक नाम - आज्ञा योग चक्र
अंग्रेजी नाम - Meddula Plexus
दल - द्वि दल, बीज मंत्र - ॐ
दलों के अक्षर - हं, क्षं
वाहन - नाद, यंत्र – लिंगाकार

देव – अर्द्धनारीश्वर
देव शक्ति - हाकिनी
लोक - तपः
तत्त्व - मह तत्त्व
वर्ण – श्वेत (दूधिया)

स्थान - भ्रूमध्य
ध्यान सिद्धि - दिव्य दृष्टि, दूर दृष्टि, त्रिकाल, ज्ञान, आत्म ज्ञान, देव दर्शन आदि
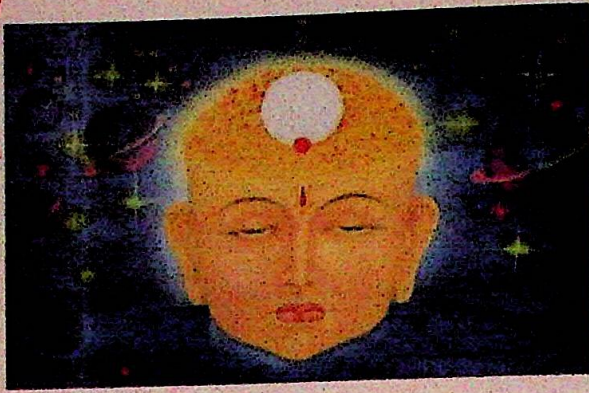
यौगिक नाम - सहस्रार योग चक्र
अंग्रेजी नाम - Brain Plexus
दल - सहस्र , बीज मंत्र — विसर्ग
दलों के अक्षर - अं से क्षं तक
वाहन - बिन्दु, यंत्र — पूर्ण चंद्राकार
स्थान - मस्तिष्क

देव — परात्पर परब्रह्म
देव शक्ति - महा-शक्ति
लोक - सत्यः
तत्त्व - तत्त्वातीत
वर्ण — परम तेजोमय, स्वर्णिम, अनंत वर्ण

ध्यान सिद्धि - अनंत सिद्धियाँ, अनंत लोक ज्ञान, मोक्ष प्राप्ति, पूर्णता के सन्निकट

भूमिका

।। जय श्रीराम ।।

।। श्रीमते रामानन्दाय नम : ।।

जगद्गुरु अनंतश्री विभूषित, कलि पावनावतार श्री श्री परम पूजनीय श्री स्वामी रामानंदाचार्य जी इस युग की महान विभूति थे । तेरहवीं शताब्दी में, जब भारत में मुस्लिम शासन था, उन्होंने स्वधर्मियों की हठधर्मिता और विधर्मियों के आतंक और अत्याचार से उत्पीड़ित हिंदू समाज को ऐसा मार्गदर्शन दिया, कि उस समय कराह-कराहकर मरती हुई प्रजा को सबल अवलंब मिल गया । अत्याचार की गरमी में तपती, पतझड़ की तरह सूखती जा रही हिंदू सनातन संस्कृति उनके मार्गदर्शन से पुनः नवपल्लवित हो गयी । हिंदू सनातन संस्कृति क्षीण होते-होते विधर्मी आंघात सहने के लिये पुनः सक्षम हो गयी । इसलिये समस्त संसार की पुरातन संस्कृतियों की भाँति ईसाइयत और मुसलमानी आँधी में हिंदू संस्कृति का नामो-निशान नहीं मिट सका।

स्वामी श्री रामानंदाचार्य मात्र धर्माचार्य ही नहीं थे, अपितु वह सामाजिक और राजनैतिक मार्गदर्शक भी थे । अस्पृश्यता और ऊँच-नीच के भेद को उन्होंने भक्तिमार्ग के आधार पर नकार दिया । जाति-पाति के भेदभाव को समाज से दूर किया । उन परमहंस अवधूत कोटि के संत के द्वारा कलि के ग्रास बने जीवों के उद्धारार्थ बहुत कार्य हुआ है । उनके सदुपदेश, उनकी जीवनी और उनके द्वारा दिये गये संदेश के द्वारा इस घोर कलिकाल में भी कलि के प्रभाव से बचने के रास्ते साधक और मुमुक्षुओं को मिल ही जाते हैं। सुरति, साधना एवं नाम स्मरण को उन्होंने भक्ति का राजमार्ग बनाकर, भक्ति पर मात्र कुछ लोगों का अधिकार न रहने देकर, सामान्य जन को सुलभ करा दिया ।

परमात्मा की शरणागति को – प्रपत्ति को एकमात्र माध्यम बनाकर भक्ति, योग, ज्ञान और कर्म करते हुए साधना करने का उन्होंने आदेश

दिया। शरणागति का भाव रखने से अहंकार जाग्रत नहीं होता। साधना-पथ पर अहंकार ही सबसे बड़ा शत्रु है । अहंकार न होने से साधक का पतन होने की संभावना नहीं रह जाती ।

कलिकाल में देखा जाता है कि लगभग प्रत्येक मानव अशांत है, दुःखी है । वह जीवनपथ पर चलता तो जा रहा है, परंतु उसे यह नहीं पता कि वह क्यों दुःखी है ? उसकी अशांति का कारण क्या है ? मन की अशांति को छिपाने के लिये अधिकांश लोग जीवन में खाओ, पीओ और मौज करो, के सूत्र से चलते हैं। मानव चाहता तो सुख है, परंतु विपरीत दिशा में गति करता है । न तो उसके पास कोई ध्येय है और न कोई मंजिल । ध्येय है तो वह ऐसा है कि उसकी अप्राप्ति में भी दुःख है और प्राप्ति में भी दुःख है । उसे यह नहीं पता, कि वह इस दुनिया में क्यों आया है । उसे यह भी नहीं पता कि उसे कैसे जीना चाहिये । उसे यह भी नहीं पता कि वह कहाँ से आया है और जीवन समाप्त होने के बाद कहाँ जाएगा ? युग का दुष्प्रभाव भी ऐसा है कि न ही उसे इस विषय में कोई परवाह भी है ।

परमात्मा ने इस सृष्टि में माया का साम्राज्य इतना प्रबल बनाया गया है कि माया के प्रभाव से बचने का प्रयास जीवों के लिये बहुत दुष्कर हो जाता है । इसीलिये गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं – ***दैवी ह्येषां गुणमयी मम माया दुरत्यया ।***

पहले तो माया की छाया ही इतनी मीठी, इतनी आह्लादक प्रतीत होती है, कि उसका वास्तविक और विकराल स्वरूप ही किसी को आसानी से नजर नहीं आता । माया की पकड़ में फँसे जीवों की वह ऐसी दुर्दशा करती है, जिससे हार-थककर जीव परमात्मा की ओर बढ़े । तब अनंत जन्मों के पुण्य प्रभाव से जीव को माया की वास्तविकता का सच्चा स्वरूप दिखाई देने लगता है । वास्तव में माया के माध्यम से परमात्मा ही जीव को अपनी ओर अग्रसर करते हैं।

जब उसका भाग्योदय होता है, तो किसी सत्पुरुष का संग प्राप्त होता है । तब उसे समझ आती है कि मानव जीवन किसी ध्येय की, लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ही उसे मिला है । अनेक जन्म उसने व्यर्थ गँवा दिये। अनेक जीव अनेक जन्मों से परमार्थ पथ पर चलते जा रहे हैं। उनके पास

यदि सद्गुरु रूपी मार्गदर्शक है, तब तो इस भव की भयंकर भवाटवी में भटक जाने का भय कुछ कम हो जाता है । अन्यथा चाहते हुए भी जन्म-जन्मांतर तक अनेक जीव भटकते रहते हैं।

जब धीरे-धीरे जीव सद्गुरु की शरण में पहुँच कर उनके सदुपदेश को जीवन में चरितार्थ करने का प्रयास करता है तब उसे पता चलता है कि जन्मों-जन्म की माया की पकड़ आसानी से छूटती नहीं है ।

ऐसे समय समर्थ सद्गुरु उसकी सहायता करते हैं। सद्गुरु वह हैं जिनका एक हाथ तो परमात्मा के चरणों में रखा हुआ है और दूसरा हाथ अपने शरणापन्न सत्शिष्य के मस्तक पर रखा हुआ है । परंतु चाहते हुए भी सद्गुरु शिष्य के लिये कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि माया की पकड़ में फँसा हुआ जीव गुरु के शब्दों का अनुसरण न करके माया में ही आनंद ले रहा है । जो माया की पकड़ से छूटने के लिये अपना जीवन भी दाँव पर लगाने के लिये तैयार है, उनके लिये गुरुदेव भी तत्पर रहते हैं। इसे कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है -

मानव-जीवन को, भव को, भवसागर की उपमा दी गयी है यानी मानव-जीवन एक समुद्र है । समुद्र की उत्ताल तरंगें माया का स्वरूप हैं । हम सब प्रत्येक जीव छोटी-छोटी अहंकार रूपी नाव में बैठ समुद्र में सफर कर रहे हैं । उत्ताल तरंगें हमारे आसपास गरज रही हैं परंतु हम अपनी छोटी-सी नाव में मस्त बने तरंगों का आनंद ले रहे हैं। हमें यह पता नहीं है कि किस क्षण ये तरंगें हमें निगल जाएँगी और हमारा आनंद नष्ट कर देंगी । हम से थोड़े ही दूर हमारे परमात्मा, या कहो हमारे सद्गुरु बड़े जहाज में बैठ हमें पुकार रहे हैं - हे जीव ! क्षणिक आनंद में अपनी जिंदगी न गँवा, मेरे पास आकर शाश्वत आनंद का भागी बन जा । परंतु किसको फुर्सत है उनकी बातों को सुने ? हम तो क्षणिक आनंद में ही रचेपचे रहकर जीवन को नष्ट करने में मस्त हैं।

कुछ लोग सुनते भी हैं तो अनसुनी कर देते हैं, क्योंकि तरंगों के वास्तविक स्वरूप का हमें बोध ही नहीं है । हमारे आसपास की कितनी नावों को उन उत्ताल तरंगों ने निगल लिया है, फिर भी हमें उसकी कोई चिंता नहीं है । हम तो बस, मस्त बनकर अपनी ही मौत की महफिल मना रहे हैं। हमारे

सद्‌गुरु हमारी चिंता करते हैं, हमारे लिये व्यथित होते हैं, परंतु हमें कहाँ चिंता है उस बात की ?

जो थोड़े-बहुत जीव सद्‌गुरु की पुकार सुनते हैं, सद्‌गुरु की शरण में आ जाते हैं। वे शिष्य चाहते तो हैं कि सद्‌गुरु उसे बचा लें, परंतु अपनी छोटी-सी नाव अर्थात् अपने अहंकार को छोड़ना नहीं चाहते । वे चाहते हैं वे अपनी छोटी नाव में ही बैठे रहें और सद्‌गुरु उसे बचा लें । ऐसे लाखों शिष्यों में एकाध ऐसा निकलता है, जो अपनी छोटी-सी नाव को छोड़कर समुद्र में कूद जाता है और ऐसे कूदनेवाले जीव की सहायता सद्‌गुरु और परमात्मा बहुत अच्छी तरह करते हैं। नाव को छोड़कर समुद्र में कूदना अर्थात् अपना जीवन दाँव पर लगा देना .... अपना शीश स्वयं उतारकर रख देना.... अपना अहंकार विसर्जित कर देना .... बहुत ही दुष्कर कार्य है यह।

परंतु जो कोई इतनी हिम्मत करता है, सद्‌गुरु भी समुद्र में कूदे हुए जीव को पकड़कर उसे बचा लेते हैं । परंतु हकीकत तो यह है कि जीव को अपनी अहंकार रूपी नाव छोड़नी ही पड़ेगी, जो जीव कभी नहीं चाहता । कभी-कभी तो जीव को सद्‌गुरु अपनी ओर खींचकर बचाना चाहते हैं, तो जीव अपनी छोटी नाव को भी साथ-साथ खींचने लगता है । इसलिये सद्‌गुरु हार-थककर तबतक राह देखते रहते हैं, जबतक जीव को स्वयं अहंकाररूपी नाव छोड़ने की समझ आये।

सृष्टि के नियामक परमात्मा राम स्वयं अंशावतार ले कर जब स्वामी रामानंद के रूप में .... सद्‌गुरु के रूप में इस धरातल पर आये, तो उन्होंने अपने शिष्यों को बचाने का प्रयत्न भी जहाज जैसा बड़ा कार्य ही किया । ऐसा ही एक प्रयत्न स्वामी रामानंद जी ने जीव को समझ देने और समुद्र में कूदने की हिम्मत देने के लिये किया है जिसका नाम है " **अध्यात्म रामरक्षा** " ।

उनके द्वारा रचित अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र योग मार्ग के प्रवासियों के लिये वह पाथेय है, जिससे वे ईश्वर प्रणिधान को मुख्य आधार बना कर, योग पथ पर निर्विघ्न यात्रा करते हुए अपने ध्येय तक पहुँच सकते हैं । यह कलियुग के प्रभाव के विपरीत प्रवाह में, परमात्मा के परम पथ की ओर अग्रसर होने का सुगम मार्ग बताता है।

रामरक्षा अर्थात् जीव की रामनाम द्वारा रक्षा। जो अपने-आपको पहचानना चाहते हैं, जो परम तत्त्व को पाना चाहते हैं, ऐसे साधकों के लिये स्वामी जी ने अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र की रचना की है । जीव अपने पुरुषार्थ से, अपने प्रयत्न से अगर चाहे कि भवसागर पार हो जाए , लगभग असंभव है। क्योंकि जहाँ अपनापन होगा, कर्ताभाव होगा, वहाँ अहंकार भी रहेगा ही । साधना का अहंकार ही साधक को साधना से विचलित कर देता है ।

उदाहरणार्थ, नारद जी ने अपने बल पर साधना करके काम पर विजय पायी, तो उनको भी अहंकार हुआ । *जिता काम अहमिति मन माहीं......*जिसके कारण उनकी बुद्धि भ्रष्ट हुई । वे मोहिनी पर मोहित हो गये और उससे विवाह की इच्छा हुई । नारद जी तो परम भक्त थे, इसलिये भगवान ने उनको बचा लिया । परंतु अहंकार से ग्रस्त जीव के पतन की कोई सीमा नहीं रहती ।

इस प्रकार अपने बल पर पुरुषार्थ करने पर जीव का पतन निश्चित रूप से होता है । इसके लिये परमात्मा की शरणागति के साथ साधना करने पर स्वामी जी ने जोर दिया, जिस से पतन की संभावना बहुत कम हो जाए । अगर शरणागति पूर्णरूपेण सही है तो पतन की संभावना बिलकुल नहीं है ।

स्वामी श्री रामानंदाचार्य जी और श्री संप्रदाय का दृढ़ मत है कि परमात्मा श्रीराम ही सकल सृष्टि के आधार, परब्रह्म हैं और माता सीता जी उनकी आद्य शक्ति हैं । शक्तिमान और शक्ति कभी भी भिन्न नहीं हो सकते । गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने परम गुरु की मान्यता को शब्दों का रूप देते हुए लिखा है – *बन्दउँ सीतारामजी पद जिन्हके परम प्रिय खिन्न । गीरा अरथ जल बीच सम कहियत भिन्न न भिन्न ।।* अर्थात वाणी-शब्द और उसका अर्थ जिस प्रकार दिखने में दो होने पर भी अभिन्न हैं, उसी प्रकार माता सीता जी और श्रीराम जी कहने के लिये दो होने पर भी अभिन्न हैं । रामानंदी-संप्रदाय हमेशा सीतारामजी की संयुक्त भक्ति में विश्रास रखता है । मात्र शक्तिमान भी नहीं, मात्र शक्ति भी नहीं, उनके लिये तो सीताराम जी अभिन्न हैं, उपास्य हैं । मात्र शक्ति सीता जी का वरण करनेवाले रावण की दुर्दशा हो गयी । ठीक उसी प्रकार मात्र शक्तिमान राम जी का वरण करनेवाली शूर्पनखा को भी दुष्परिणाम भुगतना पड़ा है

मानव शरीर में भी शक्ति और शक्तिमान का वास है । शक्ति चितिशक्ति के रूप में मूलाधार में अर्थात् मेरुदंड के निचले छोर पर सुषुप्त अवस्था में पड़ी हुई है और शक्तिमान शिव-ब्रह्म सहस्रार में, मस्तिष्क में, शक्ति के बिना शव होकर पड़े हैं । कुण्डलाकार पड़ा हुआ सहस्र फणवाला शेषनाग, उस पर विश्राम करते हुए नारायण और उनके चरणों में आदिशक्ति लक्ष्मी जी भी इसका प्रतीक हैं । जब तक शक्तिमान और शक्ति का मिलन नहीं होता, तब तक संसार के सारे दुःख-दर्द का अनुभव होता है, अशांति बनी रहती है, जीवन में नाना प्रकार के अभाव की अनुभूति होती है । जब किसी भी उपाय से शक्ति और ब्रह्म का मिलन हो जाता है, तब मानव पूर्णावस्था को प्राप्त कर लेता है । तब संसार के सारे दुःख-दर्दों से वह उपर उठ जाता है ।

संसार की सारी साधनाएँ शक्ति और शक्तिमान के मिलन हेतु हैं । योगी मूलाधार में अव्यक्त रूप में अवस्थित चितिशक्ति को योग-साधना के द्वारा सहस्रार में पहुँचाता है । वैष्णव संप्रदाय में शरणागति द्वारा चितिशक्ति को जाग्रत कर सहस्रार में पहुँचाया जाता है। योगी हठयोग की प्रक्रिया द्वारा मूलबन्ध और उड्डियानबन्ध लगाता है जिससे अपान वायु पर दबाव पड़ता है और वह सुषुम्ना नाड़ी पर आघात करता है । बार-बार आघात लगने से कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है और तीव्र वेगपूर्वक सुषुम्ना में प्रवेश कर चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार तक पहुँचने का प्रयास करती है । कभी -कभी हठयोग में मंत्रों के प्रभाव से कुण्डलिनी को जाग्रत किया जाता है । परंतु यदि साधक का सुषुम्ना का मार्ग शुद्ध नहीं है तब उसमें अवस्थित सप्त चक्रों का भेदन नहीं हो सकता और चितिशक्ति मार्ग में अवरोध होने से वह कुपित हो जाती है । उससे साधक के शरीर को क्षति हो सकती है , साधक को हानि होने की संभावना रहती है । विपरीत परिणाम आते हैं । बहुमूल्य नाजुक गाड़ी ऊबड खाबड मार्ग में तेज़ी से दौड़ायी जाय, तो गाड़ी की जो बुरी दशा होती है, वही दशा साधक की हो जाती है ।

देखा-देखी हठयोग करनेवाले स्वेच्छाचारी साधकों को गोस्वामीजी सावधान करते है.......*देखादेखी साधे योग, खीजे काया बाढ़े रोग*..... योगी रोगों से ग्रसित हो जाता है । कारण साधक किसी योग्य गुरु की निश्रा में साधना नहीं करता ।

उत्तम मार्ग में परमात्मा की संपूर्ण शरणागति ही एकमात्र साधन है । परमात्मा सबके हृदय में बैठे हुए हैं । हम जब उनकी संपूर्ण शरणागति स्वीकार करते हैं तो परमात्मा स्वयं अन्नमय कोश और प्राणमय कोश का शुद्धीकरण मनोमय कोश की आवश्यकता के अनुसार करके, कुण्डलिनी जाग्रत कराते है। मार्ग स्वच्छ होने से षट्चक्रों का भेदन भी कुछ ही क्षणों में हो जाता है और चितिशक्ति अपने प्रियतम परब्रह्म के पास सहस्रार में तुरंत पहुँच जाती है ।

इसे कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है - जिस प्रकार यात्री मार्ग पर अपनी गाड़ी से प्रवास करता है, तो उसे मार्ग का पूरा पता रहता है । कौन-सा नगर कब पार किया यह उसे पता चलता है, मार्ग की कठिनाइयों, सुविधाओं, सब वह देख सकता है । यह योग मार्ग है । परंतु शरणागति अथवा भक्तिमार्ग अंतिम चरण में हवाई जहाज का सफर है । यात्री को पता ही नहीं चलता कि कौन-सा नगर कब पार हो गया । उसी प्रकार चक्रों का भेदन कब-कैसे हो जाता है, कुण्डलिनी कैसे जाग्रत हो जाती है, उसे पता ही नहीं चलता । मात्र गंतव्य पर पहुँचने पर पता चलता है कि ध्येय पर पहुँच गये हैं ।

चक्रों के भेदन से भिन्न-भिन्न प्रकार से अंतःकरण की शुद्धि होती है ।

साधना का मुख्य ध्येय अंतःकरण की शुद्धि का होता है । परमात्मा तो नित्य प्राप्त है, सर्वत्र परिपूर्ण है, हमारे अंदर-बाहर सब जगह है । परंतु हमारा अंतःकरण शुद्ध न होने के कारण हम उन्हें नहीं देख सकते । ऊपर से लादा हुआ ज्ञान हमारे लिये परेशानी बन जाता है । जिस प्रकार तैरने की विद्या को पुस्तक से सांगोपांग जाननेवाला व्यक्ति यदि तैरना ही न जानता हो, तो वह विद्या किसी काम की नहीं है । वह विद्या जानने का नहीं, अपितु अनुभव का विषय है । उसी प्रकार अध्यात्म के विषय में है । वह तोते जैसे रटे हुए ज्ञान का नहीं अपितु अनुभव का विषय है । ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करके समस्त समाज को प्रभावित करनेवाला व्यक्ति हो सकता है कि वह अनुभवशून्य हो ।

स्वामी जी कहते हैं ज्ञान मात्र मस्तिष्क में नहीं, अनुभव के रूप में हृदय में होना चाहिये । पंडितों की तरह मात्र मस्तिष्क में ज्ञान भरने से जीव

का उद्धार कभी नहीं होता । जप, तप, अनुष्ठान विधि के लिये जो मानसिक स्थिरता चाहिये, शुद्ध सात्विक वातावरण चाहिये, वह कलिकाल में काल के दुष्प्रभाव के कारण मिलना अति मुश्किल है । वातावरण ही इतना प्रदूषित है, अवांछित वैचारिक तरंगें वायुमंडल में इस प्रकार व्याप्त हैं, कि उसका प्रभाव व्यक्ति को सरलता से साधना पथ पर अग्रसर नहीं होने देता ।

इसलिये जिस प्रकार भगवान शंकर ने कलिकाल के जीवों के उद्धारार्थ शाबर मंत्रों का शास्त्र रचा । उसी प्रकार भगवान स्वामी श्री रामानंद जी ने कलिकाल से ग्रसित जीवों के उद्धारार्थ संस्कृत भाषा को छोड़ इस अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र की प्राकृत भाषा में रचना की है । उस रचना में मंत्र के कोई छंद नहीं हैं, जिसे कहते हैं - अनमिल आखर – अक्षरों का मिलना संभव नहीं रखा है । इसे शब्दों मे व्यक्त करना बहुत मुश्किल है ।

सामान्यतः देखा जाता है कि योगी सगुण परमात्मा में कम विश्वास रखता है । परंतु महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग मार्ग प्रस्तुत किया है, जिसके आठ अंग हैं । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । उनमें पाँच यम हैं, पाँच नियम हैं । पाँच नियमों में एक नियम ईश्वर प्रणिधान का भी है जिसे महत्त्वपूर्ण आधार बनाकर स्वामी जी ने अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र की रचना की है। महर्षि घेरंड ने " **घेरंड संहिता** " की रचना की है, वह भी हठयोग का विस्तृत वर्णन करती है ।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण से अर्जुन पूछते हैं *किम् अध्यात्मम्* ? अध्यात्म क्या है ? भगवान उत्तर में कहते हैं – *स्वभावो अध्यात्मं उच्यते* । **स्व में स्थित होना, स्व को पहचानना, स्व के भाव में सतत रहना ही अध्यात्म है।** यह स्व है क्या ? हम स्व को किस भाव से मानते हैं, देखते हैं, वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है । हम अपने-आपको मानव मानते हैं, शरीर मानते हैं, स्त्री मानते हैं, पुरुष मानते हैं, अमुक जाति के मानते हैं, अमुक देश के, अमुक प्रदेश के मान लेते हैं । इसलिये आध्यात्मिकता से हम कोसों दूर हैं । हम स्वयं को देहधारी शरीरधारी प्राणी मानते हैं, वह भी गलत है । हाड़-मांस का पुतला हम नहीं हैं, देह हम नहीं हैं, देह हमारी है, अर्थात् हम देह से

भिन्न अस्तित्ववाले हैं । यह बात कहना जितना सरल है, उतना ही कठिन हृदय से स्वीकार कर अनुभव में उतारना है ।

अधिकांश लोग शरीर को ही अस्तित्व मान लेते हैं । वे शरीर की आवश्यकताओं में ही रचे-पचे रहते हैं । शरीर से ऊपर भी कुछ है, यह उनकी समझ से परे है, न ही वे समझना चाहते हैं । ये आसुरी तत्त्व के लोग हैं । वे पाशविक वृत्ति के लोग हैं, पशु-तुल्य हैं । कुछ लोग शरीर से ऊपर उठकर मन के साम्राज्य में रहते हैं । मन जैसे नचाता है, नाचते रहते हैं । कभी आनंद से झूमते हैं, तो कभी दु:खी होकर, निराश होकर आत्मघात तक कर लेते हैं । वे निम्न कोटि के मानव हैं । और कुछ लोग ऐसे हैं, जिन को पता है, कि शरीर और मन के ऊपर भी आत्मा है । और वही हमारा सत्य स्वरूप है । वही अपरिवर्तनशील तत्त्व है । शरीर और मन तो नित्य परिवर्तन को प्राप्त होते हैं । वे साधक कोटि के जीव हैं, शरीर और मन से ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं ।

कुछ गिने-चुने लोग ऐसे हैं, जो रहते तो शरीर में ही हैं, परंतु देह भाव से अलिप्त रहते हैं । संसार के सुख-दु:खों से अलिप्त हैं, वे महापुरुष शरीर धारण करते हुए भी संसार में निर्लिप्त भाव से रहते हैं । जिस प्रकार कमल कीचड़ में रहकर भी उस से अलिप्त रहता है और कीचड़ की शोभा बढ़ाता है, ठीक उसी प्रकार ये सिद्ध पुरुष संसार की शोभा बढ़ाते हैं । देह और आत्मा को एक नहीं अपितु भिन्न-भिन्न मानकर आत्म भाव में रहना ही आध्यात्मिकता है, वही वास्तविकता भी है और वही स्वभाव कहा जाता है । तब जीव समझ पाता है कि यह शरीर मेरा नहीं है ।

इस जीवात्मा ने असंख्य शरीर धारण किये हैं, असंख्य शरीर छोड़े हैं । यह परंपरा अनादि काल से चली आ रही है । भगवान कृष्ण कहते हैं, ***ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः*** । जीव सनातन है और परमात्मा का अंश है । इस जीव ने अपने-आप को परमात्मा से अलग मान लिया है, जो उसका भ्रम है । सागर में एक बिन्दु स्वयं को एक सिन्धु मान ले तो वह उसका भ्रम ही है । वास्तव में तो वह सागर का एक अंश ही है और वह भी अभिन्न ।

जब हरि-गुरु कृपा होती है, तभी यह समझ जीव में आती है । तब परमात्मा हमारे मिथ्या अहंकार छीन लेते हैं, गुरु के माध्यम से हरि हमारा मिथ्या भ्रम हरण कर लेते हैं - वही आध्यात्मिकता है । आध्यात्मिकता एक ऐसी स्थिति है, या आवश्यकता है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में यदाकदा अनुभव करता है । वह है अलौकिक आनंद ।

कितनी ही सुख-सुविधाओं के बीच रहनेवाला व्यक्ति, कितने ही प्रिय परिवार जनों के बीच रहनेवाला व्यक्ति भी कभी-कभी तो अकेलापन महसूस करता ही है, कभी तो खालीपन महसूस करता ही है । यही है परमात्मा की जीव को अपनी ओर खींचने की प्रक्रिया या संयोग । परंतु उस समय ऊपर उठने का सही रास्ता न पकड़ कर जीव खालीपन दूर करने के नये-नये उपाय ढूँढ लेता है । समाचारपत्र, रेडियो, टी.वी., पार्टियाँ, पिकनिक आदि-आदि...। कभी-कभी तो वह और नीचे चला जाता है । वह व्यसनों में डूबकर अपना खालीपन या अकेलेपन को भूलने की कोशिश करता है ।

प्रत्येक मानव कोई-न-कोई कामना लेकर भिन्न-भिन्न दिशा में सतत भागता जा रहा है । उसे नहीं पता कि किस दिशा में वह जा रहा है । जिस दिशा में जा रहा है, वहाँ उसकी कामना पूर्ति होगी भी या नहीं । वास्तव में कौन-सी कामना उसे निरंतर भटकाती है .....किस दिशा में उसे जाना चाहिये...यही उसे पता नहीं है । न ही उस विषय की चिंता ही है । वह सोचता है कि इतनी दौड़ के बाद शांति मिलेगी, लक्ष्य की प्राप्ति हो जाएगी, स्थिरता मिल जाएगी .....परंतु स्थिरता किसी में नहीं है ।

प्रत्येक जीव अपने पूर्ण स्वरूप को, अपनी आनंदमय स्थिति को, अपने शाश्वत अस्तित्व को प्राप्त करना चाहता है, जिससे वह वंचित है । उसकी अपूर्णता उसे सदैव भटकाती रहती है, सदैव वह अनजान, अपरिचित खोज में भागता रहता है । आश्चर्य की बात तो यह है कि जीव को पता ही नहीं है कि वह क्या खोजने इस पृथ्वी पर भेजा गया है । उसकी खोज है शाश्वत सुख की खोज...... परम प्रेम की खोज..... परम शांति की खोज ।

प्रत्येक जीव आनंद की प्राप्ति, शांति की प्राप्ति के लिये जीवनभर कोशिश करता है । किसी को भोजन खाने में आनंद मिलता है, किसी को सोने में आनंद मिलता है, किसी को भटकने में आनंद मिलता है, किसी को

शरीर सजाने में आनंद मिलता है, किसी को धन प्राप्ति में, किसी को अनेक प्रकार की सुख-सुविधाओं की उपलब्धि में, किसी को मान-सम्मान में आनंद मिलता है । सब को किसी-न-किसी रूप में अपने अहंकार की पुष्टि में ही आनंद मिलता है । इस प्रकार आनंद की खोज में संपूर्ण जीवन जीव बिता देता है । उस प्रकार के आनंद की प्राप्ति जीव यदाकदा कर भी लेता है । परंतु वह आनंद क्षणिक है, पराधीन है । क्षणिक आनंद की अनुभूति के बाद पुनः जीव नये-नये आनंद की क्षुधा में भटकना-भागना आरंभ कर देता है ।

अध्यात्म अर्थात् अधि आत्मन् । आत्म स्वरूप को प्राप्त करना, अपने-आपको पहचानना । मानव यह अनुभव कर लेता है कि जो दिखता है वह उसका सही स्वरूप नहीं है । वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति ही उसका जीवन-ध्येय है ।

जिस प्रकार भूमि में जल तो है ही, उस पर जमी मिट्टी और पत्थरों की परतें हटाने से जल की उपलब्धि हो जाती है । ठीक उसी प्रकार हम सब उस परमात्मा के अभिन्न अंश हैं, परम तत्त्व हम में विद्यमान हैं ही, मात्र उस पर जमी अंतःकरण की अशुद्धियों को हमें दूर करना है । जिस प्रकार नीचे से छलाँग लगाकर छत पर पहुँचने की कोशिश करनेवाले ऊपर सही सलामत पहुँचेंगे या नहीं, वह बात निश्चित नहीं है । यह निश्चित जरूर है कि उसके हाथ-पैर टूटेंगे । परंतु सीढ़ी का उपयोग कर छत पर धीरे-धीरे पहुँचा जाता है । उसी प्रकार धैर्यवान साधक धीरे-धीरे अपने लक्ष्य को क्रमशः प्राप्त कर लेता है क्योंकि वह मार्ग छलाँग लगाने का नहीं है ।

हाँ ! यह हो सकता है कि कोई पूर्व जन्मों की साधना के फलस्वरूप कुछ ही समय में लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है, और किसी को अनेक जन्म साधना करनी पड़ती है । परंतु यह भी सुनिश्चित है कि उस स्थिति पर वह भी जन्मों के क्रम के बाद ही पहुँचा है । कोई उसी स्थिति पर पहुँचते लाखों जन्म गँवा देते हैं ।

जब जीव को सद्‌गुरु की प्राप्ति होती है, तब उसको समझ आती है कि वह जिस दिशा में भाग रहा है, वह दिशा ही गलत है । सद्‌गुरु उसे दिशा बताते हैं । संसार की चीजों के प्रति भागने से कभी शाश्वत सुख की, आनंद की प्राप्ति नहीं हो सकती । बहिर्मुखता ही तो जीव की अशांति का मुख्य

कारण है । संसार की गरमी में तपते हुए जीव को सद्‌गुरु की शीतल छाँव के बिना अंतर्मुखता आनी लगभग असंभव है क्योंकि जन्म-जन्म से जीव बहिर्मुखता के साथ ही जिया है, वही उसकी आदत बन गयी है, वही उसका स्वभाव बन गया है । बहिर्मुखता के सिवाय और कोई स्थिति जीव की हो भी सकती है, ऐसी कल्पना जीव भी नहीं कर सकता ।

जन्म-जन्म से गहरी नींद में सोये हुए जीव को जब सद्‌गुरु जगाते हैं, तो वह जागना भी नहीं चाहता । उसे निद्रावस्था ही अच्छी लगती है । वास्तविकता के बदले उसे मीठे सपने देखना ही अच्छा लगता है । बार-बार आवाज़ देकर सद्‌गुरु जगाने की कोशिश करते रहते हैं, तब जीव कहीं थोड़ा जगता है, और पुनः सो जाता है । जिस प्रकार माता-पिता छोटे बच्चे को मिठाई देकर अपना कार्य करवा लेते हैं, उसी प्रकार सद्‌गुरु अपने शिष्यों को सांसारिक दुःखों से निवृत्ति देने का लालच देते हैं । लालच नहीं, वास्तव में दुःखों की निवृत्ति भी जगने से ही होती है ।

जगद्‌गुरु श्री स्वामी रामानंद जी ने असंख्य जीवों को जगाया और परमार्थ पथ पर अग्रसर किया । उनके असंख्य विरक्त और गृहस्थ शिष्य थे, जिनको स्वामी जी ने अध्यात्म पथ के अनेक उपाय बताये । **सबसे सरल उपाय स्वामी जी ने जो बताया, वह है संपूर्ण शरणागति सहित सुरति साधना का।** नाम स्मरण, जप । यही है साधना का राजमार्ग । जप सतत तैलधारावत् होना चाहिये । इस सरल पथ पर कोई भी साधक बिना किसी खतरे के धीरे-धीरे आगे बढ़ सकता है । परंतु वह भी विवेक बुद्धि के साथ समझपूर्वक होना चाहिये । यदि वह भी अहंकार बढ़ाने का माध्यम बनता है, तो साधक ध्येय से और दूर हो जाता है ।

स्वामी जी के शिष्य अनेक प्रकार के थे । जिसकी जैसी रुचि थी, वैसा पथ स्वामी जी ने उन साधकों को बताया । उनमें कुछ हठयोग के पथिक थे । उस पथ के पथिकों को पाथेय के रूप में स्वामी जी ने अध्यात्म रामरक्षा प्रदान की ।

अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र और कुछ नहीं, साधक के द्वारा परमात्मा श्रीराम की शरणागति-सहित हठयोग की प्रक्रिया तथा उसके द्वारा अनुभव में आनेवाले परिणामों की चर्चा है। सामान्यतः हठयोग के साधक ईश्वर-प्रणिधान

को नहीं मानते। वे स्वयं के बल से साधना करते हैं, और स्व बल से लक्ष्य की प्राप्ति करना चाहते हैं । यदाकदा प्राप्ति हो भी जाती है, तो अहंकार आ जाता है, जिससे उसका पतन सुनिश्चित हो जाता है । योगी मत्स्येन्द्रनाथ इस बात का ज्वलंत उदाहरण हैं । उनको योग सिद्धि की प्राप्ति हो जाने के बाद ही उनका पतन हो गया था, जिस से उनके शिष्य योगी गोरक्षनाथ ने बचाया था ।

स्वामी श्री रामानंदाचार्य जी ने हठयोग की प्रक्रिया के साथ ईश्वर शरणागति को जोड़ दिया है । ईश्वर शरणागति से ही योग सिद्धि की प्राप्ति होती है, जिससे अहंकार नहीं होता । ईश्वर कृपा से सिद्धि को प्राप्त करनेवाले जीव किस बात पर अहंकार कर सकते हैं ? उसमें अपना तो कुछ बल होता ही नहीं ।

इसलिये अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र समझने के लिये सर्वप्रथम योग और हठयोग का थोड़ा-सा विहंगावलोकन कर लेना अति आवश्यक होगा । आएँ ! योग और हठयोग के विषय को जरा समझ लें ....तभी आगे स्वामीजी क्या कहना चाहते हैं, समझ सकते हैं ।

शास्त्र कहते हैं कि संसार का कोई भी मानव न तो शक्तिहीन है, न ही अल्पशक्तिवाला है और न ही शक्तिक्षीण है । वह केवल एक व्यक्ति है, जिसकी शक्ति सो गयी है, सो रही है, और बिना जगाये वह अनन्तकाल तक सोती ही रहेगी । इसीलिये वेदों में भी कहा गया है - **" उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । "**

इसी शक्ति को सोने से जगाना, " शव " से " शिव " बनाना, " पशु " से " पशुपति " बनाना तथा " जीवोऽहं " से " शिवोऽहं " की अनुभूति कराना ही योग का परम लक्ष्य है ।

योग शब्द ही युज् धातु से बना है, जिसका अर्थ है जोड़ना । जीव अपने वास्तविक स्वरूप से, अपने परमात्मा से बिछड़ गया है, या बिछड़ने का उसे भ्रम हो गया है । उसे पुनः अपने परमात्मा से जोड़ने का कार्य योग करता है । अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कराना, उस भ्रम को निवृत्त कराना ही योग का लक्ष्य है ।

जो स्थूल मानव-देह हमें दिखता है, वह मानव शरीर पंच महाभूतों का बना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। उसी प्रकार मानव-देह पंच कोश का बना है। वह पाँचों कोश ऊर्जा के पाँच स्तर हैं । अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनंदमय कोश।

स्थूल अन्नमय कोश को ऊर्जा श्वास से, प्राण से प्राप्त होती है । श्वास से स्थूल शरीर और सूक्ष्म प्राण जुड़ते हैं अर्थात् प्राणमय कोश स्थूल और सूक्ष्म को जोड़नेवाला स्तर है । इस प्रकार अन्नमय कोश का संरक्षण प्राणिक शरीर से होता है, या प्राणमय कोश से होता है और शरीर में अवस्थित विभिन्न सूक्ष्म चक्रों के द्वारा प्राण तन्त्र को ऊर्जा मिलती है । प्राणायाम द्वारा प्राणिक स्तर को शुद्ध और केन्द्रित करके जीव शरीरमय कोश - अन्नमय कोश से ऊपर उठकर मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनंदमय कोश तक पहुँच सकता है । योग में प्राणमय कोश को प्राणायम द्वारा प्रथम नियंत्रित किया जाता है ।

अन्नमय कोश मानव की पकड़ में सरलता से आता है, परंतु मनोमय कोश को पकड़ना इतना आसान नहीं होता क्योंकि मन हमारे लाखों प्रयत्नों के उपरांत स्थिर नहीं हो पाता । तो प्राणमय कोश से अन्नमय कोश और मनोमय कोश को स्थिर किया जा सकता है ।

मानव शरीर एक जटिल, किन्तु विभिन्न ऊर्जा तंत्रों का पूर्ण व्यवस्थित क्षेत्र है, जो मूल ऊर्जा तत्त्व, जिसे प्राण कहते हैं, उसपर आधारित है । प्राण ब्रह्मांड की सर्वव्यापी ओजस्वी ऊर्जा है, जिसे हम श्वास द्वारा शरीर में ग्रहण करके जीवन धारण करते हैं । प्राण ही मनुष्य के साथ-साथ समस्त पार्थिव जगत की भी जीवनी शक्ति है ।

मानव शरीर में प्राणिक ऊर्जा के सात सूक्ष्म चक्र हैं । ये चक्र मेरुदंड में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, और सहस्रार चक्र के नाम से जाने जाते हैं । मूलाधार चक्र जननेन्द्रिय और मलद्वार के मध्य में होता है। स्वाधिष्ठान चक्र मेरुदंड के निचले छोर पर है । मणिपुर चक्र नाभि के पीछे मेरुदंड में है । अनाहत चक्र हृदय के पीछे मेरुदंड में अवस्थित है । विशुद्धि चक्र कण्ठकूप के पीछे है । आज्ञा चक्र भ्रूमध्य में होता है । सहस्रार चक्र सर्वोत्तम चेतना का अधिष्ठान है, जिसकी स्थिति ब्रह्मरंध्र या सिर के शीर्ष पर है ।

ब्रह्मांडीय प्राण की ऊर्जा प्राणवायु के रूप में श्वास द्वारा ग्रहण करके जीव शरीर के प्राणतंत्र को ऊर्जा देनेवाले सातों चक्र विभिन्न अंगों को शक्ति प्रदान करते हैं। प्राण तन्त्र, जिसके अन्तर्गत प्राणिक शरीर आता है, उसके ईन्धन की आपूर्ति चक्रों द्वारा होती है । ये चक्र अति सूक्ष्म एवं उच्च शक्तिवाली ऊर्जा के भँवर होते हैं । ब्रह्मांडीय प्राण ऊर्जा को ग्रहण कर शरीर के लिये उसके रूपांतरकर्ता के रूप में ये चक्र कार्य करते हैं ।

योग द्वारा उसका उपयोग चेतना की उच्च क्षमताओं एवं आयामों के जागरण हेतु प्रवर्तक विन्दुओं के रूप में भी किया जा सकता है ।

समस्त शरीर में प्राणिक ऊर्जा प्रवाहित करने के लिये चक्र से जुड़ी हुई सूक्ष्म बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं । वे प्राण ऊर्जा का वहन करती हैं, जिससे चेतना और प्राण का वितरण शरीर के प्रत्येक कोश तक अनवरत होता रहता है । उन बहत्तर हजार नाड़ियों में सबसे महत्त्वपूर्ण तीन नाड़ियाँ हैं, जो मेरुदंड में अवस्थित हैं । जिसे इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना कहा जाता है । इड़ा मनो ऊर्जा, पिंगला प्राण ऊर्जा तथा सुषुम्ना आध्यात्मिक ऊर्जा प्रवाहित करती हैं ।

इन तीनों नाड़ियों का उद्गम उत्सर्जक अंगों के मध्य में स्थित मूलाधार चक्र से होता है । सुषुम्ना नियंत्रक नाड़ी है, जो मूलाधार से लेकर सातों चक्रों के मध्य से सीधी ऊपर मस्तिष्क में सहस्रार तक जाती है । सुषुम्ना पूर्णतः सुषुप्तावस्था में पड़ी होती है । सुषुम्ना के मार्ग में सात चक्र हैं, जो मेरुदंड और उसके ऊपर अवस्थित हैं । उसे **चितिशक्ति** अथवा **कुण्डलिनी शक्ति** भी कहा जाता है ।

शरीर में प्रवाहित प्राण ऊर्जा के प्रवाह को वहन करनेवाले पाँच प्रकार के वायु और पाँच प्रकार के उपवायु भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करते हैं । पाँच वायु हैं – प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान ।

मूलाधार चक्र आद्य शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी का अधिष्ठान है । यह चक्र प्राण ऊर्जा का उत्पादन केन्द्र है । प्राणों का अधोमुखी प्रवाह – अपान वायु – मानव चेतना को निम्नतर, अति पार्थिव तत्त्व, जैसे स्वाभाविक कामनाओं की पूर्ति, अति आसक्ति, अकर्मण्यता, उदासीनता, आलस्य आदि की ओर ले जाता है ।

प्राणी के शरीर में ब्रह्मांडीय महाप्राण की अभिव्यक्ति कुण्डलिनी शक्ति द्वारा होती है । समस्त जीवधारियों में निहित दिव्य चेतना सर्वप्रथम प्राण ऊर्जा में रूपांतरित होती है, जिसे कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं । सामान्यतः वह सुषुप्त अवस्था में होती है ।

सामान्यतः कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन चक्र बनाकर चक्राकार रूप में सर्प की भाँति मूलाधार में सोयी रहती है । उसका मुँह नीचे की ओर दबा हुआ है । जब तक यह ग्रंथि यथावत् रहती है, यहाँ अवस्थित ऊर्जा अवरुद्ध रहती है । किन्तु साधना के द्वारा जैसे ही यह खुलती है, प्राणशक्ति जाग्रत हो

जाती है । असीम ऊर्जा और आध्यात्मिक अनुभूतियाँ मूलाधार से उत्पन्न होने लगती हैं । मूलाधार चक्र का संबंध पृथ्वी तत्त्व या अन्नमय कोश से होता है । प्राणिक जगत में इसका संबंध अधोगामी ऊर्जा, अपान वायु से है । वह मल, मूत्र, वायु, वीर्य आदि को बाहर निकालने का कार्य करता है । मूलाधार का संबंध अचेतन मन से है, जो सहज आदिम प्रवृत्ति, भय आदि का भी आश्रय स्थान है ।

मूलाधार से निकलनेवाली दूसरी नाड़ी पिंगला मूलाधार चक्र के दाहिनी ओर से आरंभ होकर प्रत्येक चक्र पर इड़ा को पार करती हुई चक्राकार गति से सुषुम्ना के आसपास घूमती हुई आज्ञा चक्र तक दाहिनी ओर पहुँच जाती है । इड़ा बाँयी ओर से प्रारंभ होकर पिंगला को पार करती हुई चक्राकार गति से आज्ञा चक्र पर दाँयी ओर पहुँचती है । परंतु इड़ा या पिंगला, दोनों ही अर्ध सक्रिय होती हैं । कभी एक सक्रिय होती है, तो कभी दूसरी ।

भौतिक तल पर इन नाड़ियों की सक्रियता नासिका के द्वारा श्वास-प्रश्वास के रूप में व्यक्त होती है । दाहिनी नासिका से चलती श्वास पिंगला नाड़ी की सक्रियता और बाँयी नासिका की श्वास इड़ा नाड़ी की सक्रियता बताती है ।

पिंगला नाड़ी की सक्रियता से शारीरिक गतिशीलता, शक्ति और बहिर्मुखता प्रधान होती है, उसे सूर्य नाड़ी या यमुना नाड़ी भी कहा जाता है । वह शरीर का तापमान बढ़ाती है । बाँयी इड़ा नाड़ी को चंद्र नाड़ी या गंगा नाड़ी कहा जाता है । उसकी सक्रियता से मानसिक शान्ति, स्वप्नावलोकन तथा मानसिक सक्रियता प्रधान होती है । यह ऊर्जा निष्क्रिय ऊर्जा है, जो अधिकतर अन्तर्मुख होती है । वह शरीर का तापमान कम करती है । इस प्रकार इड़ा नाड़ी मानसिक ऊर्जा को, पिंगला नाड़ी शारीरिक ऊर्जा को तथा सुषुम्ना नाड़ी दोनों के एकीकरण को प्रस्तुत करती है ।

जब दोनों नासिकारन्ध्र समान रूप से प्रवाहमान होते हैं उस समय सुषुम्ना सक्रिय होती है। सुषुम्ना को कुण्डलिनी की आध्यात्मिक ऊर्जा, महाप्राण की प्रवाहिका माना जाता है। जब सुषुम्ना का प्रवाह होता है, तब व्यक्ति में समत्व और स्थिरता की भावना प्रधान रहती है । तब ध्यान की स्थिति सहज होती है । किसी भी साधना के लिये यह उत्तम स्थिति है ।

सामान्यतः डेढ़-डेढ़ घंटे तक प्राण क्रमशः दोनों नाड़ियों में प्रवाहित होता है । समय का अंतराल प्रकृति के अनुसार कुछ भिन्न भी हो सकता है।

दोनों के बीच का समय, जब प्राण नाड़ी बदलता है, उस सन्धिकाल में पाँच-छ: मिनट का समय ऐसा होता है, जब प्राण दोनों नाड़ियों में बराबर होता है, तब सुषुम्ना में प्राण रहता है, वह साधना की उत्तम स्थिति है। प्राणायाम उस स्थिति को प्राप्त करने में सहयोग करता है ।

श्वसन के द्वारा प्राण शक्ति स्थूल और सूक्ष्म को जोड़ती है । इसलिये प्राण शक्ति के नियमन द्वारा स्थूल से सूक्ष्म को प्रभावित किया जा सकता है । प्राण को - श्वास को विविध पद्धति द्वारा विविध उपयोग में लेकर साधना द्वारा ध्येय को प्राप्त किया जाता है । उन पद्धतियों को योग की भाषा में प्राणायाम कहते हैं । प्राणायाम के द्वारा अनियमित प्राण ऊर्जा को नियमित करके उसको आध्यात्मिक उन्नति में प्रयोग किया जाता है ।

योग के विभिन्न अभ्यास, विशेष करके हठयोग और क्रिया योग के अभ्यास से सभी चक्रों को एक-एक करके शुद्ध एवं जाग्रत किये जाते हैं । हठयोग में "ह" अर्थात् सूर्य और "ठ" अर्थात् चंद्र । सूर्य का तात्पर्य सूर्य नाड़ी अर्थात् पिंगला और चंद्र अर्थात् इड़ा से है । सूर्य नाड़ी और चंद्र नाड़ी का योग करके सुषुम्ना में ले जाने की प्रक्रिया को हठयोग का नाम दिया गया है ।

योग में प्राणायाम अति महत्त्वपूर्ण क्रिया है । प्राण का आयाम अर्थात् प्राण का नियमन । प्राण शरीर और चित्त दोनों को जोड़नेवाली कड़ी है । इसलिये प्राण संयम द्वारा चित्त वृत्तियों का निरोध करना ही योग साधना की रहस्यमय चाबी है । प्राणायाम मुख्यतः तीन क्रियाओं पर आधारित है । पूरक क्रिया में श्वास को भीतर खींचना होता है । कुंभक द्वारा श्वास को रोकना है । कुंभक दो प्रकार के हैं । आंतरिक कुंभक और बहिर्कुंभक । श्वास को अंदर या बाहर रोकने से कुंभक होता है । अंतिम क्रिया रेचक है, जिसमें श्वास को नियमपूर्वक बाहर निकाला जाता है । सामान्यतः मानव में ये क्रियाएँ अनियमित रूप से अनियंत्रित चलती रहती हैं । परंतु प्राणायाम उनको नियमपूर्वक नियंत्रित करने की विधि सिखाता है ।

मुद्राओं का भी हठ योग में विशेष महत्त्व है । मुद्रा का अर्थ होता है, " मुद " यानी आनंद प्रदान करनेवाले - " मनोभाव " अथवा " प्रतीकात्मक भंगिमा " । वास्तव में मुद्राएँ ऐसी चेष्टायें, कृत्य या अभ्यास हैं, जो शरीर के विभिन्न चक्रों में प्राण को जाग्रत करती हैं । इसका प्रभाव पंच कोशों के सभी स्तरों के माध्यम से प्रसारित होता है, तथा स्थूल से सूक्ष्म को समुचित संदेश स्थानांतरण हो सकता है । मुद्रा मूलतः अपने चिदानन्दात्मक

आत्मस्वरूप के उन्मीलन का एक साधन है । इस की शक्ति से मन्त्र सिद्धि भी हो सकती है ।

मुद्राएँ तीन प्रकार की हैं । मनोजा - जो मानसिक अनुसंधान से होती है, वाग्भवा - जो मन्त्रों द्वारा होती है और देहोद्भवा - शरीर की विभिन्न आकृति द्वारा होती है । मुद्रा के तीन कार्य हैं --नाड़ियों का शोधन, चन्द्रमा और सूर्य (पिंगला और इड़ा) का चालन, रसना का शोषण (सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान) । मुद्राओं के द्वारा स्थूल का सूक्ष्म पर प्रभाव और सूक्ष्म का स्थूल पर प्रभाव स्वतः होता है ।

प्राणमय कोश के माध्यम से संदेशों का प्रवाह दो तरफा प्रक्रिया है । नाम जप द्वारा साधन पथ पर बढ़ते शरणागत भक्त योगी को चेतना की परिवर्तित स्थिति में मुद्राएँ तथा प्राणायाम स्वतः सहज ही होने लगते हैं । जो सूक्ष्म से स्थूल शरीर में संदेशों के अन्तरण को दर्शाते हैं । भक्ति पथ के पथिकों को प्राणशक्ति की उस स्थिति में सूक्ष्म से स्थूल का अनुभव होता है । भक्ति करते हुए प्राण जाग्रत होकर जब उस कक्षा को प्राप्त होता है, तब उनको मुद्राएँ करनी नहीं पड़तीं, अपितु स्वतः हो जाती हैं ।

इसके विपरीत स्थूल तल पर हम शरीर द्वारा मुद्राएँ धारण कर मन को – सूक्ष्म को संदेश प्रेषित कर सकते हैं । इसका असर बड़ा सूक्ष्म होता है, जिसमें बड़ी संवेदनशीलता की आवश्यकता होती है । किन्तु सतत अभ्यास के फलस्वरूप मन का इस प्रकार अनुकूलन हो जाता है । मुद्राएँ प्राणमय कोश में नाड़ियों के ताने-बाने में विभिन्न परिपथों का संयोजन करती हैं, जिस से प्राण का प्रवाह उत्पन्न होता है, जिसके स्थूल एवं सूक्ष्म निहितार्थ (छिपे हुए अर्थ) होते हैं ।

बन्ध का भी हठयोग में महत्त्व है । बन्ध मानसिक ताले होते हैं, जिन का प्रयोग प्राण के स्तर को उठाने तथा उसके प्रवाह की दिशा को पलटने के लिये किया जाता है उदाहरणार्थ मूलबन्ध, जालंधर बन्ध, उड्डियान बन्ध इत्यादि । बन्ध का अर्थ है ताला, नियंत्रित प्राण शक्ति या बन्द ।

स्वामी जी के श्री चरणों में कोटि-कोटि प्रणिपात

।। जय स्वामी रामानंद जी की ।। जय श्री सद्गुरुदेव जी की ।। जय श्रीराम ।।

।। श्री राम जय राम जय जय राम ।।

श्री अध्यात्म रामरक्षा

ॐ सन्ध्यातारिणी सर्वदु:खहारिणी ।
सन्ध्या उच्चरै विघ्न टरैं ।।
पिण्ड प्राण की रक्षा श्रीनाथ निरञ्जन करैं ।
ज्ञानदीपै मनोधूपै इन्द्री पञ्च हुताशनम् ।
क्षमा जाप समाधिस्थ नमो देव निरञ्जनम् ।।
ॐ अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।
परम गुरुभ्यो नमः परात्परगुरुभ्यो नमः ।
परमात्मा गुरुभ्यो नमः श्री आत्मा गुरुभ्यो नमः ।।
आदि गुरुदेव अन्त गुरुदेव अनन्त गुरुदेव ।
अलख गुरुदेव शरण गुरुदेव ।।
श्री गुरुदेवजी के चरणारविन्द में नमो नमस्कारम् ।।
हरत सर्व व्याधि शोक सन्ताप दु:ख दारिद्र्य ।
कलह कल्पना रोग पीड़ा ।।
सकलविघ्न खण्ड खण्ड ।।
तस्मै श्री रामरक्षा निराकार बानी ।
अनुभव तत्त्व, निर्भय मुक्ति जानि ।।
बाँधिया मूल, देखिया स्थूल, गर्जिया गगन धुनि ध्यान लागा ।।
त्रिगुण रहित शील सन्तोष में,
श्रीरामरक्षा लिये प्राणी ॐकार जागा ।।
पञ्चतत्त्व पञ्चभूत पच्चीस प्रकृति ।
पञ्चभूतात्मा पञ्चबाई समदृष्टि समस्वर आई ।।
प्राण अपान उदान व्यान समान मिलि,
अनहद शब्द की खबर पाई ।।
उलटिया सूर, गगन भेदिया, नवग्रह डंक छेदन किया ।
पेखिया चन्द्र जहाँ कला सारी ।।
ब्रह्म अग्नि प्रगट भई जरा व्याधि जली ।

डाकिनी साकिनी घेर मारी ।।
धरती आकाश बीच पंथ चलता किया ।
अगम निगम महारस अमृत पिया ।।
भूत-प्रेत दैत्य-दानव संहार किया ।
वज्र की कोठरी, वज्र का दण्ड लै ।
वज्र के खड्ग से काल मारिया ।।
गरुड़ पक्षी उड़िया नाग-नागिनी डसिया ।
विष की लहर सौं निद्रा न झंपै ।।
पिण्ड निर्मल हुआ पिञ्जरे पड़ो सुआ ।
रोग पीडा व्यथा नहिं देह व्यापै ।।
रोम-रोम ररंकार उच्चरंत वाणी ।
श्रवण सुनत गुरु के शब्द सो जानी ख्याल करता रहै ।।
समदृष्टि मुष्टि मेला झिलमिली । ज्योति झलकार झलकत रहै ।।
ज्योति ध्वनि ध्वनि में ज्योति नाद बिन्दु मिल भया, रंग रेला ।।
शून्य का नेहरा शून्य सूझता रहै ।।
आप सो आप मिलि आप जाय लागिया ।
शरीर सो शरीर मिलि शरीर स्पर्शता रहै ।।
जीहि सो जीहि मिलि ब्रह्म जागिया ।
नैन सो नैन मिलि नैन निरखत रहै ।।
मुख सो मुख मिलि बोल बोलिया ।
श्रवण सो श्रवण मिलि नाद सुनता रहै ।।
शब्द सो शब्द मिलि शब्द बोलिया ।
नृत्य सो नृत्य मिलि नृत्य लागी रहै ।।
सुरति सो सुरति मिलि सुरति आवै ।
धाम सो धाम मिलि धाम जागृत रहै ।।
राग सो राग मिलि राग गावै ।
ज्ञान सो ज्ञान मिलि ज्ञान लागा रहै ।।
ध्यान सो ध्यान मिलि ध्यान ध्यावै ।
जाप सो जाप मिलि जाप अजपा जपै ।।
सोई दम लागी रहै भेद पावै ।
चित्त सो चित्त मिलि चित्त चेतन हुआ ।
उन्मनि दृष्टि सो भाव देखे ।।

द्वार सो द्वार मिलि शीश सो शीश मिलि ।
जीव सो जीव मिलि ब्रह्म सो ब्रह्म मिलि भेद भेदिया ।।
मिटि गया घोर अँधियार तिहुँलोक से ।
श्वेत स्फटिकमणि हीरा भेदिया ।।
उघरन्त नैन बाजन्त बैन चन्द्र सूर्य दोउ रहत थीरा ।।
हाँक-हुँकार हनुमान ललकार गाजत रहैं ।
पकरि बाँधीया बावन वीरा ।।
गगन उलटि चलै, भानु पश्चिम उवै ।
निरखिया ब्रह्म प्रकाश किया ।।
आत्मा माहि दीदार दर्शता रहै । अजर अमर हवै आप जिया ।।
किणी किंकणी रुणी झुनझुनी सिंह धुनि ।
नाद नादं सुषुम्ना के साज साजिया ।।
चाचरी, खेचरी, भूचरी, अगोचरी, उन्मनी ।
पाञ्च मुद्रा साधन से सिद्धि साधे साधु राजा ।।
जले थले घाटे बाटे औघटे नाथ निरञ्जन निराकार रक्षा करैं ।।
बाघ बाघिनी का करौ मुख काला ।।
चौंसठ जोगिनी मारि कुटिका करौ । खेचरी भूचरी क्षेत्र पाला ।।
अखिल ब्रह्मांड तिहुँलोक दोहाई फिरै ।
अलख पुरुष निरञ्जन निराकार के चक्र सों बाढ़ बाँध्यो ।।
दृष्टि औ मुष्टि छल छिद्र में, बीर बैताल में।
नवग्रह अवधूत भूत पाखण्ड टार्यो ।।
पंथ में घोर में सोर में चोर में देश में परदेश में ।
राज के तेज में अग्नि की ज्वाला में नदी की लहर में
साँकरे पैठ श्रीराम रक्षा करैं ।।
सन्त के शीश पर हाथ धरै रहैं ।
चरण और शीश लो आप रक्षा करैं ।।
गुप्त का जाप लै गुप्त साधैं।
चन्द्र और सूर्य दोउ एक घर में करैं ।।
जीतिया संग्राम देवाधिदेव, कमलदल शुद्ध किया ।
उलटि कर अमृत पिया ।।
विषाद सब दूरि भागे कमल दल ज्योति ज्वाला जलै ।
भँवर गुंजार आकाश लागै ।।

रुद्र नाड़ी त्वचा रक्त व्योम सोषन्त, उच्चरन्तं बानी ।।
गर्जन्त गगन, बाजन्त बयन ।
शंख शब्द ध्वनि सुनि त्रिकुटि शिखर बीच,।
दास रामानन्द ब्रह्म चीन्हों, सोई निज तत्त्व ब्रह्मज्ञानी ।।
इति श्री अध्यात्म रामरक्षा पठन्ते सुनन्ते उच्चरन्ते ।
राजद्वारे संग्रामे शत्रुसंकटे रक्षा भवेत् ।
श्री स्वामी रामानन्द रामरक्षा विचारते ।
जीवजन्तु उद्धारते पुनरपि जन्म न विद्यते ।
श्री रामचन्द्रजी उच्चरन्ते सीता लक्ष्मण सुनन्ते ।
हनुमानजी कण्ठ करन्ते, ।।
मन स्थिर रहन्ते, मोक्ष मुक्ति फल लभन्ते ।
प्रातःकाले मध्याह्ने सन्ध्याकाले पठन्ते रामरक्षा फल प्राप्ते ।

इति श्री अध्यात्म रामरक्षा स्तोत्रम् ।

हरिः ॐ । श्री गुरुभ्यो नमः । हरिः ॐ ।

।। जय श्रीराम ।।

अनुष्ठान विधि

श्री अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र का पाठ आध्यात्मिक, अधिभौतिक और अधिदैविक - तीनों प्रकार का लाभ देता है । व्यक्ति स्वयं तो आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर हो सकता है, साथ ही अन्य लोगों को अधिभौतिक और अधिदैविक व्याधि में लाभ भी दिला सकता है । उसका एक-एक शब्द स्वामी श्री रामानंद जी की आध्यात्मिक ऊर्जा तथा संकल्प शक्ति से भरा हुआ है । श्रद्धा और विश्वास से किया गया पाठ अवश्य फलदायक बना है, और आगे भी निरंतर बनता रहेगा, ऐसा स्वामी जी का आशीर्वाद उसमें सम्मिलित है । यह निश्चित रूप से मांन लेना चाहिये कि यह स्तोत्र अलौकिक एवं अपार फलदायी है, जिसका लाभ अनेक लोगों ने लिया है और लेते रहेंगे । परंतु इसमें स्वामी जी के प्रति श्रद्धा और विश्वास अनिवार्य है । उसके अभाव में यदि कदाचित कोई साधक कभी असफल होता है, तो वह उसकी अक्षमता और त्रुटियों को खोजे । निश्चित रूप से उसे सफलता मिलेगी ।

श्री अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र का पाठ करने की विधि भी स्वामी जी ने प्रस्तुत की है । विधि सहित अनुष्ठान करके पाठ के शब्दों को प्रथम जाग्रत किया जाता है । तदुपरांत निरंतर पाठ करते रहने से पाठ का फल प्राप्त किया जाता है ।

विधि

चैत्रमास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से एकादशी तक अर्थात् ग्यारह दिन की प्रत्येक रात्रि के ११ बजे से तिल के तेल का दीपक जलाकर भगवान शंकर का पूजन करें । भगवान शंकर चाहे शिवलिंग के रूप में हों, नर्मदेश्वर के रूप में हों, या पार्थिव लिंग के स्वरूप में हों । जल से शिव जी का अभिषेक करके पंचाक्षरी शिवमंत्र – ॐ नमः शिवाय – मंत्र से ११ बिल्वपत्र एक-एक कर के क्रमशः चढ़ाएँ । तत्पश्चात ११ गुलाब के फूल भी एक-एक करके क्रमशः चढ़ाएँ । धूप, दीप कर के द्राक्षारस – मुनक्का का नैवेद्य निवेदित कर शिव जी की आरती करें । बाद में उस दीपक की ज्योति में अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र का २१ बार पाठ करें । दीपक को बुझायें नहीं, अपने-आप बुझने दें ।

इस प्रकार फलाहार करते हुए ११ रात्रि अनुष्ठान करें । द्राक्षा-मुनक्का को अंत में गाय को खिला दें । इस प्रकार पाठ को सिद्ध किया जाता है ।

एक बार पाठ को सिद्ध कर के निरंतर त्रिकाल पाठ अवश्य करें । अर्थात् प्रातः, दोपहर और सायंकाल, तीन काल में पाठ करना अनिवार्य है । इससे पाठ की सिद्धि प्राप्त होती है ।

विवेचन

संपूर्ण अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र को दो मार्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

१.१ **क्रियात्मक भाग** - साधना पथ पर अग्रसर होने के लिये हठयोग मार्ग के साधक को करना क्या है, यह बात स्वामी जी ने वर्णन की है ।

(१) श्री सद्गुरुदेव की शरणागति स्वीकार कर उनको प्रणाम करके साधना पथ में प्रवेश करना है ।

(२) परब्रह्म परमात्मा श्रीराम जी की वंदना करते हुए उनकी प्रपत्ति (अनन्य भक्ति) के लिये प्रार्थना करनी है । गुरु-प्रदत्त मंत्र का जप करते हुए साधना का प्रारंभ करना है ।

(३) मात्र सद्गुरु के मार्गदर्शन के नीचे ही मूलबन्ध बान्ध कर पद्मासन में या सिद्धासन में रीढ़ की हड्डी सीधी रखते हुए बैठना है। जिस भी आसन में बैठा जाए , कम-से-कम तीन घंटे वह आसन छूटना नहीं चाहिये ।

(४) दृष्टि को नासिकाग्र पर स्थिर करना है ।

(५) प्राणायाम का विधान-योग्य गुरु के मार्गदर्शन में करते हुए स्वर को उलटा करने का - स्वर बदलने का अभ्यास करना है । स्वर विद्या का अभ्यास करते-करते चंद्र और सूर्य के स्वर को एक करके प्राण को सुषुम्ना में प्रवेश कराते हुए कुण्डलिनी को जाग्रत करना है ।

१.२ **अनुभवात्मक भाग** - उन क्रियाओं के परिणामस्वरूप साधक को साधना की पूर्णता पर क्या-क्या और किस-किस प्रकार के अनुभव हो सकते हैं, इस बात का वर्णन स्वामी जी ने किया है ।

(१) अन्य साधक को अपनी-अपनी साधना करते हुए श्री अध्यात्म रामरक्षा का त्रिकाल पाठ अवश्य करना चाहिये, जिससे स्वामी जी

की कृपा और करुणा का लाभ मिले । श्री अध्यात्म रामरक्षा का एक-एक अक्षर सिद्ध मंत्रस्वरूप है । इसलिये उसका पाठ भी साधक को साधन पथ पर अग्रसर होने के लिये स्वामी जी की संकल्प शक्ति का सहारा देता है । अध्यात्म पथ पर श्रीराम नामरूपी यह सिद्ध कवच है, जो किसी भी प्रकार के विघ्नों से साधक की रक्षा करता है । सकल विघ्न खंड-खंड करने का स्वामी जी ने साधकों को आश्वासन दिया है, वचन दिया है ।

(२) नित्य पाठ करनेवाले साधक के पास स्वामी जी की कृपा से इतनी अध्यात्म शक्ति का संचय हो सकता है, जिससे वह दूसरे व्यक्तियों की भी सहायता कर सकता है ।

(३) कलिकाल में अकस्मात मृत्यु को प्राप्त अतृप्त जीव, ब्रह्मराक्षस, प्रेतात्मा आदि से ग्रस्त जीव की बाधाएँ अध्यात्म रामरक्षा का नित्य पाठ करनेवाला साधक दूर कर सकता है । स्वामी जी का कथन है कि वह साधक ११ बार पाठ करते हुए जल को अभिमंत्रित करें । उस जल को ब्रह्मराक्षस से ग्रस्त जीव को पिलायें और उस पर वह जल छिड़कें, तो उस जीव की बाधा दूर हो जाती है ।

(४) अन्य साधारण और असाधारण रोगों की निवृत्ति भी अध्यात्म रामरक्षा का पाठ सदैव करनेवाला साधक अभिमंत्रित जल से कर सकता है । रोग के प्रकार की भिन्नता के कारण रोग निवारण के लिये कुछ समय लग सकता है ।

(५) मार्ग में भय उत्पन्न होने पर पाठ किया जाए तो सर्वप्रकार की बाधाएँ अवश्य दूर हो जाती हैं ।

इस प्रकार अध्यात्म रामरक्षा स्वामी श्री रामानंदाचार्यजी द्वारा एक ऐसा सर्जन है, जिससे लौकिक तथा पारलौकिक, सब कार्यों की सिद्धि सहज ही हो जाती है ।

आएँ ! इस भूमिका के साथ अब स्वामी श्री रामानंदाचार्यजी को प्रणाम करते हुए अध्यात्म रामरक्षा को समझने का प्रयत्न करें ।

ॐ सन्ध्यातारिणी सर्वदु:खहारिणी
सन्ध्या उच्चरै विघ्न टरैं
पिण्ड प्राण की रक्षा श्रीनाथ निरञ्जन करैं ।

सामान्यतः किसी भी स्तोत्र के आरम्भ में मंगलाचरण होता है, प्रार्थना होती है । जगद्गुरु श्री रामानंदाचार्यजी ने यहाँ प्रारम्भ मात्र ॐकार से किया है । सृष्टि ॐकार की ध्वनि से परिपूर्ण है । हमारे ऋषि-महर्षियों ने यह सुना है कि किसी भी स्तोत्र का आदि आरम्भ परमात्मा के वाचक, परमात्मा के प्रतीक स्वरूप ॐकार से भी होता है । ॐकार में ही संपूर्ण ब्रह्मांड समाविष्ट है । **ॐ शब्द में तीन अक्षर समाहित हैं - अ, उ और म् ।**

मांडूक्य उपनिषद् कहता है कि अ वैश्वानर का प्रतीक है, उ हिरण्यगर्भ का प्रतीक है और म् ईश्वर का प्रतीक है । वह विश्व के आदि, मध्य और अंत का सूचक है । वहीं ब्रह्मा, विष्णु और महेश का भी प्रतीक है । ॐकार को प्रणव भी कहते हैं । ॐकार को अनाहत नाद भी कहा गया है अर्थात् एक ऐसा नाद, एक ऐसी आवाज़, जो बिना किसी आहत के होती है । साधारणतया सृष्टि में किसी भी प्रकार के नाद की उत्पत्ति का कारण कोई न कोई आहत, आघात होता है ।

ॐकार एक अद्भुत मन्त्र है । यदि उसका उच्चारण और आसन सही हो तो उस से शरीर में प्रचंड शक्ति और ऊर्जा उत्पन्न होने लगती है । परंतु उस ऊर्जा को पचाने की शक्ति शरीर में होनी चाहिये, जो सामान्यतः व्यक्ति में नहीं होती । इसलिये उस मन्त्र को अन्य शब्दों से जोड़ा जाता है । ॐ श्रीराम, ॐ नमः शिवाय, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय आदि-आदि ।

सन्ध्यातारिणी......सन्ध्या का अर्थ है संधि, जहाँ-जहाँ संधि होती है, उसे सन्ध्या कहते हैं । दिवस और रात्रि की संधि, ऋतुओं की संधि, अयनों की संधि, पक्ष की संधि, आदि-आदि....। प्रत्येक दिन प्रातः और सायं के संधिकाल में भारतीय लोग भगवान की आराधना उपासना करते हैं । जहाँ-जहाँ संधिकाल हैं, उपासना अधिक होनी चाहिये ।

योगियों ने देखा, श्वास लेते समय श्वास दो स्वरों में बहता है, - इड़ा और पिंगला....बायाँ और दाहिना..। परंतु वहाँ भी जब-जब संधिकाल होता है, अर्थात् प्राण सुषुम्णा में बहता है, वह समय आराधना के लिये श्रेष्ठ होता है ।

इसी कारण प्राणायाम के द्वारा संधिकाल के समय को बढ़ाकर प्राण को अधिक समय तक सुषुम्णा में रख कर की गयी साधना अति शीघ्र फलदायी बनती है । योगमार्ग की पूरी प्रक्रिया इस संधिकाल को बढ़ाने की विधि है, और उस साधना के परिणाम का वर्णन है ।

योगी संध्याकाल में और जब चाहे स्वर को समान करके, स्वर की संधि करके सूर्यनाड़ी पिंगला और चंद्रनाड़ी इड़ा को सम करके सुषुम्ना में प्रवेश कर सकता है । इसलिये रामरक्षा में सर्वप्रथम संध्यातारिणी शब्द का प्रयोग किया गया । यह संधि, यह संध्या जीवन को तारनेवाली हो जाती है ।

संधिकाल में संसार के अन्य कार्य वर्जित हैं क्योंकि वह समय मात्र आत्म-दर्शन के लिये उपयुक्त है । उस समय वायुमंडल की तरंगें स्थिर नहीं होतीं । जिसका दुष्प्रभाव मानव के मस्तिष्क पर भी पड़ता है । उस समय की मानसिकता में लिये गये निर्णय या कार्य निश्चित रूप से सफलता नहीं दे सकते, इसलिये उस समय सांसारिक कार्यों को छोड़ कर परमात्मा का स्मरण करना चाहिये । संधिकाल में उपासना करने से परमात्मा के अधिक निकट पहुँचते हैं ।

संधिकाल में उपासना करके बाद में ***जेहि स्वर चले ताहि पद दीजै...***जो स्वर चले, उसी तरफ का पग पहले आगे बढ़ाकर चलने से कार्य अवश्य सफल होता है । यदि दाहिना स्वर चलता हो, दाहिनी नासिका से श्वास चलता हो, तो किसी भी कार्य के लिये बढ़ने के लिये प्रथम दाहिना पैर आगे करना चाहिये ।

सन्ध्या पूजा नियमित रूप से करने से सभी दुःखों का हरण होता है । सन्ध्या का उच्चारण ही अनेक प्रकार के विघ्नों को दूर कर देता है । दुःखों का आत्यंतिक अभाव करनेवाली, भवसागर से पार करानेवाली यह संध्या है । अहमता और ममता के द्वारा जिस भवसागर का निर्माण स्वयं हम ने ही किया है, उसको पार करना अति कठिन है । साधक के जीवन में, उसकी साधना में जिस भी प्रकार के विघ्न आते हैं, उसको शमन करनेवाली यह संध्या है ।

इसलिये संधिकाल में परमात्मा का स्मरण करने से भगवताकार वृत्ति पैदा करनी है अथवा निर्विचार अवस्था में पहुँचकर ब्रह्माकार वृत्ति पैदा करनी है, दोनों एक ही बात है ।

सर्व दुःखहारिणी......जितने भी दुःख हैं, उसका अभाव...। वास्तव में सर्व दुःखों का शमन कभी संभव नहीं है । जहाँ सुख की कामना है, वहाँ

दु:खों का अस्तित्व रहेगा ही ..। कोई चाहे कि हमें केवल सुख ही मिले और दु:खों की निवृत्ति हो जाए, यह संभव नहीं है । हमें सुख-दु:खों की कामना से आत्मभाव में स्थित रहते हुए दोनों से ऊपर उठना है । इस लिये *शुभाशुभ परित्यागी*......शुभ और अशुभ दोनों की कामना छोड़कर ही दु:खों का आत्यंतिक अभाव हो सकता है ।

वास्तविक रूप में देखा जाए तो सुख-दु:ख का कारण मन है । जो मन को अनुकूल लगे, वहाँ उसे सुख लगता है और जहाँ प्रतिकूलता लगे, वहाँ दु:ख की अनुभूति होती है । योग साधना करनेवाले साधक को मन से ही ऊपर उठना है, जहाँ सुख या दु:ख की अनुभूति ही न हो अथवा वह सुख या दु:ख को समान समझे । न दु:ख से दु:खी हो, न सुख से प्रसन्न । परमात्मा के स्तोत्र का उच्चारण करने से मन पर नियंत्रण आता है, जिस से परिस्थितिवश उत्पन्न संयोगों को मन सुख या दु:ख के रूप में स्वीकार न करते हुए तटस्थ बना रहे ।.

संध्या उच्चरै.....उस स्थिति में पहुँच कर मंत्रों का उच्चारण करना है । मंत्रों का उच्चारण भिन्न-भिन्न वृत्तिवाले साधक के लिये भिन्न-भिन्न होता है । जिसे गुरुकृपा से गुरुमंत्र प्राप्त है, उसे गुरुमंत्र का जप करना चाहिये । मात्र वैदिक मंत्रों का उच्चारण, संध्या के अन्य मंत्रों का उच्चारण करना भी संध्या उच्चरै...कहा जाता है । जिनको कोई मंत्र ही नहीं मिला उनके लिये *श्रीरामेति परम जाप्यम्*...श्रीराम नाम का उच्चारण करना चाहिये ।
श्रीरामेति जनाः ये जपन्ति सर्वदा, तेषां भुक्तिश्च मुक्तिश्च भविष्यति न संशयः।

श्री रामनाम परम जाप्य है। *तारकं ब्रह्मं संज्ञकं* । तारक मंत्र का जाप भी किया जा सकता है ।

पिंड प्राण....साधक के पिण्ड और प्राण की रक्षा श्रीनाथ निरञ्जन करते हैं । पिण्ड अर्थात् भौतिक शरीर और प्राण अर्थात् जीवात्मा । स्थूल और सूक्ष्म, दोनों की रक्षा सन्ध्या करने से अवश्य हो जाती है ऐसा श्री रामानन्द स्वामी साधक को आश्वासन देते हैं । दोनों की रक्षा श्री जी के नाथ श्रीराम करते हैं ।

रक्षा श्रीनाथ निरंजन करैं......... श्री जी आदिशक्ति जगदंबा श्रीसीताजी हैं । माता सीता जी का स्वभाव ही ऐसा है....वे सब दु:खों का हरण करती हैं, नि:श्रेयस (कल्याण, भक्ति और मुक्ति) की प्राप्ति कराती हैं, ऐसी माता श्रीसीता जी के पति श्रीराम – श्रीनाथ निरंजन अर्थात् जो अपने-

आप में निमग्न हैं, वे करते हैं । जो स्वयं आनंदस्वरूप हैं, जिन को बाहर की कोई आवश्यकता नहीं है । रंजन, अर्थात् आनंद को निःसृत करनेवाले, प्रगट करने वाले श्रीराम जी अपनी निजानंद की मस्ती में डूबे हुए हैं, वो पिंड और प्राण की रक्षा करते हैं । शरीर तो बना रहता है परंतु उसकी रक्षा परमात्मा करते हैं । उस निरंजन देव को नमस्कार है ।

ज्ञानदीपै मनोधूपै इन्द्री पञ्च हुताशनम् ।
क्षमा जाप समाधिस्थ नमो देव निरञ्जनम् ।

वर्तमान में जीव की स्थिति मोह से ग्रसित है । मोह के कारण ही वह नाना प्रकार के सुख-दुःख की अनुभूति करता है । माया के कारण ही भवसागर की भवाटवी में भटकता रहता है । उस मोह और माया से निवृत्ति मात्र ज्ञानरूपी प्रकाश से ही होती है ।

ज्ञानदीपै....प्रकाश वस्तु को जैसी है वैसी ही दिखा देता है, इसलिये ज्ञान रूपी दीप को प्रज्वलित करना है, जिस से मोहांधकार का नाश हो जाए । अभी हम को जड़ में चेतन और चेतन में जड़ दिखायी देता है । जड़ शरीर को हम चेतन मान बैठे हैं और सहज आनंदस्वरूप आत्मरूप को हम नहीं पहचान सकते हैं । उन सब अवस्थाओं को ज्ञानरूपी दीपक में देखा जाता है । वह दीपक जब प्रज्वलित होता है, उस के प्रकाश में हाड़-मांस का पुतला एक वस्त्र दिखाई देता है । ***वासांसि जीर्णानि यथा विहाय....***हमारी मूढ़ता को ज्ञान दीपक ही मिटा सकता है । चेतन को चेतन और जड़ को जड़ देखनेवाले ज्ञान दीपक प्रज्वलित करने के बाद मन में धूप अर्थात् सुगंधित सुवास प्रगट करनी है ।

मनोधूपै.....आगे कहते हैं कि ज्ञानरूपी दीपक जलाकर, ज्ञान के प्रकाश में और मन को धूप की तरह सुगंधित बनाकर अर्थात् मन से ऊपर उठकर साधना करनी चाहिये । पाँचों इन्द्रियों की अग्नि में आहुति देनी चाहिये । यदि साधक मन को धूप बना सकता है, तो वह अवश्यमेव भवसागर को पार करने में सक्षम हो सकता है ।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं ***मनः एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः ।***

मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण मन ही है । इसलिये साधना का संबंध शरीर से कम और मन से अधिक होता है । जिस प्रकार धूप स्वयं

को विलीन करते हुए ऊर्ध्वगामी बनती है, उसी प्रकार मन का अस्तित्व ही नहीं रहना चाहिये। मन को विलीन कर देना चाहिये ।

वास्तव में मन का अस्तित्व या तो भूत में होता है या भविष्य में ....। मन या तो भूतकाल का चिंतन करता रहता है या तो भविष्य के स्वप्न देखता रहता है । परंतु वर्तमान में मन का कोई अस्तित्व ही नहीं होता । इसलिये मन कभी वर्तमान में रहना नहीं चाहता । भूत या भविष्य में भटक कर जो ब्रह्मांडीय ऊर्जा प्रत्येक मानव को प्रतिपल प्रसाद में मिलती रहती है, उसको मन व्यर्थ गँवाता रहता है, नष्ट कर देता है । उस ऊर्जा को न गँवा कर यदि संग्रह किया जाय, तो मानव का प्रत्येक संकल्प शक्तिशाली बन सकता है और फलीभूत हो सकता है ।

जप, ध्यान, पाठ, स्वाध्याय, योग यह सब प्रक्रिया मन को वर्तमान में रखने का प्रयास है । परंतु देखा जाता है, कि एक तरफ जप चलता है और दूसरी तरफ मन न जाने कहाँ-कहाँ भटक रहा होता है । जिस प्रकार धूप प्रज्वलित हो कर अपना अस्तित्व खो देती है, उसी प्रकार वर्तमान में मन को रखकर मन का अस्तित्व मिटा देना है । यही साधक की साधना है ।

इन्द्री पंच हुताशनम् – स्वामी जी कहते हैं कि साधना में पाँचों इन्द्रियों को ही पंचाग्नि के रूप में स्वीकार कर के अहन्ता ममता की आहुति देना है । वैसे तो पंचाग्नि हठयोग की क्रिया है, परंतु शुद्ध सात्विक भक्ति पक्ष में परमात्मा की प्राप्ति का हठ भी किया जाय तो अच्छा है । त्यागी तपस्वी महात्मा पंचाग्नि तापते हैं और साथ-साथ बैठकर जप करते हैं । अग्नि के द्वारा आत्मदेव को प्रसन्न करते हैं । परमात्मा भावग्राही हैं । परमात्मा तो अखंड आनंद में स्थित हैं, परंतु वे हमारे भाव से प्रसन्न होते हैं । जप और साधना के प्रयास को देखते हैं । पंचाग्नि में बैठ करक्षमा का जप करना है ।

इन्द्रियों को उन के विषयों से लिप्त नहीं होने देना चाहिये । अर्थात् पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच ज्ञानेन्द्रियों को एकाग्र कर के आत्मारूपी अग्नि में आहुति देनी चाहिये अर्थात् उनको विलीन करना चाहिये । यह समाधि अवस्था है ।

इस में चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक और सोम का होता बनकर इन्द्रियों और प्राणों को हवन सामग्री बनाते हुए ज्योतिमण्डल रूपी हवनकुण्ड में हवन करते हैं ।

क्षमा जाप - क्षमारूपी जाप करते हुए श्री निरञ्जन भगवान को नमस्कार करते हुए समाधि अवस्था को प्राप्त करें । क्षमारूपी जाप अत्यंत दुष्कर है । किसी के अपराध, किसी के अविनय या दुर्वचन को क्षमा करना ही साधना का प्रारंभ है । सतत जागृत रहते हुए क्षमारूपी जाप निरंतर करते रहना चाहिये । पंच महाभूतों की रचना से शरीर बना है, उसमें पृथ्वी का क्षमा का गुण आना ही चाहिये । जीवन ऐसा होना चाहिये जो क्षमारूपी सुगंध से सुगंधित बन जाए ।

द्रौपदी और माता सीता का क्षमा भाव उदाहरणीय है । द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को अश्वत्थामा ने सोते हुए मार दिया, तब भी द्रौपदी ने उसे क्षमा कर दिया था । माता सीता तो पृथ्वी की, क्षमा की ही पुत्री हैं । हनुमान जी के कहने पर भी उन्होंने उन राक्षसियों को दंडित करने से मना कर दिया था, जो नित्य-प्रति उनको प्रताड़ित करती रहती थीं ।

प्रत्येक व्यक्ति से कोई-न-कोई अपराध हो जाता है, परंतु परमात्मा से वह क्षमा माँग लेता है । यह उसका अधिकार समझता है । परंतु जब अन्य कोई उसका अपराध करता है, तो वह उसे क्षमा नहीं करता । ऐसे लोगों को परमात्मा भी क्षमा नहीं करते । जब दण्ड देने में सक्षम होने पर भी व्यक्ति किसी को क्षमा करना सीखता है, तभी परमात्मा उसे क्षमा करते हैं । तब वह सच्ची समाधि में स्थित माना जाता है, तभी वह क्षमा जाप करता हुआ माना जाता है । भक्ति की सुगंध तब प्रगट होती है ।

समाधि...... समाधि अर्थात् जीव की वह स्थिति, जिसमें सम्यक् प्रकार के समाधान अपने-आप मिल जाते हैं । जो ग्रंथों का सहारा, संतों का सहारा न लेकर स्वयं अंदर से समाधान प्राप्त करते हैं ऐसे समाधिस्थ देव को नमस्कार है, ऐसा स्वामी जी कहते हैं ।

जहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एक बन जाते हैं, जहाँ ध्याता, ध्येय और ध्यान, तीनों का अभाव हो जाता है, वह स्थिति समाधि कही जाती है । सहज समाधि – अर्थात् चलते, फिरते, बैठते, उठते भी योगी समाधिस्थ हो सकता है । समाधि शरीर की अवस्था नहीं, वह मन की स्थिति है । महर्षि पतंजलि के अनुसार समाधि चित्तवृत्तियों के निरोध की अवस्था है ।

समाधिस्थ स्थिति में वृत्ति भगवताकार हो जाती है, अहंकार गलित हो जाता है, केवल एकमात्र परमात्मा ही परमात्मा सूत्र संचालक के रूप में

विद्यमान रहते हैं । जब नेत्र खुलते हैं तो लगता है कि *सर्वं खल्विम् ....वासुदेवः सर्वम्* ।

सामान्य रूप से समाधि शब्द सुनते ही हमारे मन-मस्तिष्क में ध्यान में स्थित स्थिर व्यक्ति का चित्र सामने आता है, वह ध्यानावस्था अवश्य है । परंतु समाधि तो इस से भी ऊपर की अवस्था है । वह शरीर की जड़ अवस्था मात्र नहीं है । वह मन की वह अवस्था है, जहाँ सम्यक् प्रकार का समाधान स्वयं ही मिल जाता है । शरीर चाहे स्थिर हो, चाहे न हो, परंतु मन से वह नित्य स्थिर रहता है । योग की परिपूर्ण अवस्था है समाधि । महर्षि पतंजलि ने अष्टांगयोग का आठवाँ अंग समाधि बताया है ।

महर्षि पतंजलि ने योग की अंतिम अवस्था को समाधि कहा है, परंतु वह कहते हैं कि यह ध्यानावस्था प्रारंभिक योगी की है । शरीर और मन से ऊपर उठने के लिये साधक को आरंभ में स्थिर आसन लगाकर वृत्तियों को एकाग्र करने हेतु सहायक होता है । परंतु उस से ऊपर उठे हुए योगी सहज समाधि में नित्य स्थित रहते हैं । वे चलते, उठते, बैंठते, बोलते हुए भी समाधिस्थ रहते हैं ।

नमो देव निरंजनम् ....उस देव को, जो निरंजन स्वरूप है, उनको मैं नमन करता हूँ । जो आनंद को निःसृत करनेवाले परम देव श्रीराम जी हैं, उनको नमस्कार है । क्योंकि वह समाधिस्थ पुरुष संसार से, उसकी आसक्ति से और उसमें फँसाने वाले विविध भोगों से ऊपर उठ गये हैं ।

अनेक योनियों में भोगों को भोगते-भोगते जब जीव को मानव देह दिया जाता है, तब उससे यह अपेक्षा रखी जाती है कि अब वह भोगों से ऊपर उठे । मानव शरीर का ढाँचा बहुत प्रेरणादायक है । वनस्पति में खुराक नीचे से ऊपर की ओर जाती है, पशु-प्राणियों में आगे से पीछे की ओर है, परंतु मानव देह में वह ऊपर से नीचे की ओर जाती है । प्राणी पशुओं में सिर और जननेन्द्रिय एक स्तर पर हैं, जब कि मानव में सिर बहुत ऊपर है और जननेन्द्रिय बहुत नीचे...अर्थात् मानव शरीर की रचना ही भोगों से ऊपर उठने के लिये हुई है ।

ॐ अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।

उस स्थिति तक पहुँचने के लिये प्रथम सोपान का स्वामी जी परिचय कराते हैं । प्रत्येक बूँद को समुद्र तक पहुँचने के लिये निर्झर अथवा

नदी की आवश्यकता पड़ती है । भारत में संत समाज बाकी जन-समाज को परमात्मा तक पहुँचाने का माध्यम बनता है ।

स्वामी जी की विचारधारा को गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने ग्रंथों के द्वारा हम तक पहुँचायी है । उनके द्वारा कही गयी नवधा भक्ति में *प्रथम भगति संतन कर संगा...* संतों के साथ बैठते-बैठते सत्संग सुनते-सुनते, हरिकथा सुनते-सुनते जब वृत्ति भगवताकार हो जाए, मोह की निवृत्ति हो जाए, परमात्मा के प्रति प्रेम हो जाए, और जीव को लगे कि परमात्मा तक पहुँचने के लिये कोई माध्यम की आवश्यकता है, तब वह उन्हीं संतों में से किसी महापुरुष को श्री गुरुदेव के रूप में स्वीकार कर उनकी शरण में जाता है ।

दूसर रति मम कथा प्रसंगा......संतों से भगवत् चर्चा सुनते-सुनते, ज्ञान की बातें सुनते-सुनते जब भक्ति में मन रँग जाए, तब वह गुरु के पास जाता है । तीसरा आयाम ***गुरुपद पंकज सेवा*** ......कहा गया । गुरु के पास जाकर भी यदि शरणागति दृढ़ न हो तो कोई फायदा नहीं । गुरु पद पंकज की दृढ़तापूर्वक सेवा करने के बाद ही उसे अध्यात्म पथ पर कोई उपलब्धि हो सकती है ।

जिस परंपरा में गुरुदेव ने मंत्र लिया है, वह सिद्धमंत्र होता है । गुरुमंत्र को जपते हुए उसके अर्थ का अनुसंधान भी करना चाहिये । अन्यथा भावहीन, अर्थहीन मंत्र के शब्दों का असर नहीं के बराबर होता है । साधक गुरुमंत्र का पूर्णतः लाभ नहीं उठा सकता । साधक परंपरा के सब गुरुओं को नमस्कार करता है, तब सब के आशीर्वाद प्राप्त करता है । नमः शब्द बहुत कल्याणकारी है । परंतु मंत्र के अर्थ को तो हम समझते नहीं हैं ।

गुरुदेव का स्वरूप कैसा होता है, उसका वर्णन स्वामी जी करते हैं । जो ॐकार स्वरूप है, अखंड मंडलाकार स्वरूप है, चराचर विश्व में व्याप्त है, उस परमात्मा के परम पद का जो दर्शन करा देते हैं, मात्र उसकी व्याख्या नहीं करते, मात्र उसका वर्णन नहीं करते, मात्र सुनाते नहीं हैं, परंतु वह दिखा भी देते हैं । परमात्मा को ***वेदांत वेद्यं विभुम्*** कहा गया है ..... वेदांत के द्वारा परमात्मा को मात्र जाना जाता है....परंतु गुरुदेव तो उसका दर्शन कराते हैं; वैसे श्री गुरुदेव के चरणों में नमस्कार करता हूँ ।

मात्र साधना पर्याप्त नहीं है, आत्मा जिसको वरण कर ले, परमात्मा जिसे स्वीकार कर ले वही परमात्मा को जान सकते हैं । साधना की ऊँची कक्षा ....जिस प्रकार कबीर जी कहते हैं ... ***मेरा सुमिरन हरि करे, मैं पाया***

*विश्राम.....*वैसी क्षमता प्राप्त हो । भक्त तो अपनी अहन्ता ममता को भगवान के चरणों पर न्योछावर कर देता है, तो जप कौन करे ? उस लक्ष्य को अंदर से अनुभव करा दे, शिवनेत्र द्वारा उस तत्त्व को दिखा दे, वही सद्‌गुरु है । स्वामी जी कहते हैं, *वादो न लभ्यते*...वाद-विवाद में कोई लाभ नही है । परंतु वाद-विवाद छोड़ परमात्मा के दर्शन करना जरूरी है ।

परमात्मा को मात्र जान लेने से जगत नाम की सत्ता ही नहीं रहती । भगवान के परम पावन दर्शन मोह की निवृत्ति कर देते हैं । इसलिये भगवान शंकर ***नयन पंचदश अति प्रिय लागे.....*** कहते हैं । भगवान शंकर को पंद्रह नयन भी परमात्मा के दर्शन करने के लिये पर्याप्त नहीं लगे । सच्चा ज्ञान अहंकार को, मोह को मिटा देता है इसलिये, *वन्दे बोधमयं नित्यं गुरु शंकर रूपिणम्....*भगवान शंकर जैसे गुरु हो....जो अहंकार का नाश करा दें।

परम गुरुभ्यो नमः परात्परगुरुभ्यो नमः ।
परमात्मा गुरुभ्यो नमः श्री आत्मा गुरुभ्यो नमः ।

प्रारंभ में ही गुरुदेव को नमस्कार करना चाहिये क्योंकि गुरुदेव के उपदेश के बिना किसी भी प्रयोजन की सिद्धि संभव नहीं । गुरु की कृपा के बिना अनेक मंत्र भी निष्फल हो जाते हैं । करोड़ों मंत्र हैं, परंतु वे जब तक सिद्ध गुरु-मुख से प्राप्त नहीं होते, तब तक व्यर्थ परिश्रम ही देते हैं । परंतु यदि गुरु की कृपा हो जाए तो वही एक मंत्र सर्वसिद्धि प्रदान करनेवाला बन जाता है ।

इस लोक में अनंत मत-मतांतर विद्यमान हैं । इस पचड़े में पड़नेवालों के चित्त अधिक व्याकुल हो जाते हैं । इससे चित्त की चंचलता बढ़ती है । प्रत्येक मत स्वयं को श्रेष्ठ बताते हैं, इसलिये चंचल चित्तवाले अज्ञानी पुरुष उनके आकर्षण में पड़ कर कभी कहीं जाते हैं, तो कभी कहीं जाते हैं । वे निश्चय नहीं कर पाते कि यथार्थ वास्तविकता क्या है ? परंतु वह जब किसी एक सिद्ध गुरु की शरण में जाता है, तो वह अवश्य ही भवसागर पार कर सकता है । जो योग मार्ग से परमात्म तत्त्व की प्राप्ति करना चाहता है वह योगी कैसा होना चाहिये, इस विषय में चर्चा करते हुए कहते हैं - ***यदा योगी पश्येद गुरुचरणयुगाम्भोजसेवासुशील*** अर्थात् गुरु चरणों की सेवा करने में सुशील हो, वही योगी हो सकता है ।

परम गुरु.......परम गुरु दादा गुरु को कहा जाता है । वैसे तो वैष्णव सन्त में सभी परम गुरु हैं, जहाँ-जहाँ से ज्ञान प्राप्त होता है, वे सब

परम गुरु हैं । परात्पर गुरु हमारे संप्रदाय के आचार्य है । संप्रदाय इष्ट से प्रारंभ होता है । वहाँ से प्रारंभ होकर जिन-जिन का माध्यम ले कर मंत्र हम तक पहुँचा है, उन श्री सद्‌गुरुदेव के गुरु परम गुरु हैं । उनसे जिस मंत्र की प्राप्ति होती है उसी से कल्याण होता है । मंत्र मात्र अक्षर रूप में कहीं से मिल जाए कल्याण नहीं कर सकता । गुरु के द्वारा प्राप्त परंपरागत चेतन मंत्र ही कल्याण कराता है ।

परमात्मा गुरुभ्यो नमः – संप्रदाय के इष्ट को नमन करना । परमात्मा ही गुरु हैं, और गुरु परमात्मा का ही स्वरूप हैं । *जगद्‌गुरु शाश्वतम्* ....जो शाश्वत है, वही परमात्मा है, वही जगद्‌गुरु है । परमात्मा श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण, दोनों ही जगद्‌गुरु हैं । *कृष्णम् वन्दे जगद्‌गुरुम्.....रामं कृष्णं भेदं न भेदम् .....* । परमात्मा के जिस स्वरूप को संप्रदाय के आचार्यों ने हमें मंत्र के रूप में दिया है, उसे कोटि-कोटि वंदन ।

आत्मा गुरुभ्यो नमः ....आत्माराम ही गुरु हैं, अपने अंदर ही गुरु तत्त्व को जाग्रत करना है । जीव परमात्मा का ही अंश है । आत्मा ही परमात्मा है । फिर आत्म गुरु को भी नमस्कार करना ही चाहिये । भगवान श्री कृष्ण कहते हैं....*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः* ....आत्मा परमात्मा का सनातन अंश है । इसलिये व्यापक परम तत्त्व को नमन करते समय आत्मा के परम तत्त्व को भी नमन करना चाहिये ।

आदि गुरुदेव अन्त गुरुदेव अनन्त गुरुदेव
अलख गुरुदेव शरण गुरुदेव
श्री गुरुदेवजी के चरणारविन्द में नमो नमस्कारम् ।

साधक के लिये आदि, मध्य और अन्त, सब में गुरु-ही-गुरु है । गुरु तत्त्व अनन्त है , जिसका न आदि है, न मध्य है, और न ही अन्त है ।

आदि गुरुदेव – परमात्मा तो अनादि गुरु हैं । परंतु आदिगुरु उनको कहा जाता है जो अपनी क्षमता से. परमात्मा की प्रेरणा से समाज के दिग्दर्शक बने । समाज को इतना प्रभावित कर दे, कि समाज उनके पीछे-पीछे स्वयं चले । बाद में वह समाज संप्रदाय में बदल जाता है । जिस प्रकार स्वामी रामानंदाचार्य.....जिन के द्वारा संप्रदाय का प्रचलन हुआ है, वही संप्रदाय के आदि गुरु माने जाते हैं। ...आदिगुरु शंकराचार्य... आदि गुरु रामानुजाचार्य आदि-आदि,....।

अनंत गुरु....... अर्थात् गुरुदेव का अंत नहीं है। गुरुदेव आदि और अंत से रहित हैं । परंतु जिस प्रकार हम सब जीवों के कल्याणार्थ निर्गुण, निराकार और अव्यक्त परमात्मा सगुण साकार रूप में व्यक्त होते हैं, वैसे ही गुरुतत्त्व हमारे कल्याणार्थ देह धारण करके हमारे बीच आता है।

वैसे तो निर्गुण-निराकार परमात्मा तटस्थ कूटस्थ हैं, परंतु सगुण साकार परमात्मा ***परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्*****.......**धरातल पर आते हैं । हमारे अंदर जो विकार हैं, जिसके कारण नाना प्रकार के दुःख हम भोगते हैं, उसे गुरु दूर करते हैं । हमारे विकारों को दूर करने के लिये सन्त हमारे साथ कभी-कभी कठोर व्यवहार भी करते हैं ।

जो अपने स्वरूप से भटक गये हैं, पदार्थों में सुख की खोज करते हैं, व्यक्तियों में सुख की खोज करते हैं.. उनको सच्चा रास्ता गुरु दिखाते हैं । हमें अपने स्वरूप में स्थित होना है । साधना निर्गुण-निराकार परमात्मा को सगुण साकार में प्रगट करने के लिये है । वही आदि ब्रह्म, आदि गुरु हैं । हमारे अंदर ज्ञान प्रगट करानेवाले, आदि से अंत तक जो गुरु-तत्त्व है, वही अनंत गुरु हैं । परमात्मा तो अनंत हैं...व्यावहारिक जगत में वे आदि से अंत तक ज्ञान कराते हैं ।

अन्त गुरुदेव....मानव शरीर के अंत तक आत्मा रूपी परमात्मा शरीर में विराजमान हैं । शरीर छूट जाता है परंतु आत्मा और परमात्मा अनंत हैं...। वही गुरु तत्त्व भी शरीर के अन्त तक साथ रहता है ।

अलख गुरुदेव...जिसे हम देख नहीं पाते..जिसे लिख नहीं पाते । कुछ उच्च कोटि के जीव सूक्ष्म रूप से साधक की सहायता करने के लिये पृथ्वीलोक में विचरण करते रहते हैं। उनको न तो साधक देख पाता है, न ही उसे पता चलता है। उन सब गुरु-स्वरूप को स्वामी जी नमस्कार कराते हैं।

अलख गुरु जो चर्मचक्षु के द्वारा न दिखाई दे, वैसे गुरुदेव को हम अपने-आपको समर्पित करते हैं । हम गुरुदेव के शरीर को देखते हैं । परंतु गुरुदेव अलख हैं, गुरु-तत्त्व अलख है, जो चर्म-चक्षु से नहीं देखे जा सकते ।

शरणागति बहुत कठिन है । जैसे कोई लावारिस वस्तु को शासन अपने अधिकार में ले लेता है, वैसे ही व्यक्ति के अंदर से अहंकार का नाश हो जाए, वह दीन-हीन हो जाए, तब परमात्मा उसे स्वीकार करते हैं । जब तक जीव कह रहा है कि हम आपके शरणागत हैं, तब तक वह शरणागत नहीं है । अर्जुन ने तो पहले ही कहा था. .... ***शिष्योस्तेह साधिमां त्वां प्रपन्नम्***

..... परंतु उसमें अहंकार शेष था, उसमें द्वैत भाव जाग्रत था । जब तक द्वैत बना है, तब तक शरणागति नहीं है, तब तक साधना झूठी हो जाती है...*जब मैं था तब हरि नहीं, हरि आयो मैं नाहिं । प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समाय* ।.........जहाँ द्वैत है तब तक प्रेम नहीं है, तब तक शरणागति नहीं है । इसलिये भगवान श्रीकृष्ण अंत में कहते हैं ***सर्व धर्मान् परित्यज्य***...।

जीव का धर्म है ....*अहमिति अभिमाना*.......वह धर्म भी छूट जाए, तब शरणागति सच्ची होती है । हमारे सबसे बड़े शत्रु हम स्वयं ही हैं, हमारा अहंकार ही है । ***सर्वं खलु इदं ब्रह्म***...भक्त का लक्षण दूसरा कोई है ही नहीं, मात्र ब्रह्म ही ब्रह्म सर्वत्र दिखे....मात्र गुरु-तत्त्व ही रहे...मात्र शिव-तत्त्व ही दिखे तब शरणागति होती है ।

अलख गुरु अर्थात् जो नेत्रों के द्वारा दिखाई नहीं देता...हम लख, हम ही हमार लख, ...भगवान का नाम सुमिरन करने से अलख का ज्ञान होता है....यह सब गुरु-तत्त्व एक ही है, अलग-अलग नहीं है...। गुरुदेव के सब स्वरूप को बार-बार नमस्कार हो ।

गुरुदेव के चरणारविंद में....... हम उनके चरण से भी निकृष्ट हैं यह स्वीकार है । कभी किसी बात की फरियाद नहीं होती है.....***तृणादपि सुनिचेन***...तिनके से भी अधिक झुक जाना है....वृक्षों की तरह सहिष्णु बनना है...।

साधक को अपने श्री सद्गुरुदेव के चरणों में प्रणिपात करने के बाद ही साधना का आरम्भ करना चाहिये । गुरु चरणों का महत्त्व अत्यधिक माना गया है । क्योंकि गुरुदेव के चरण को, चरणधूलि को साधक नमस्कार करता है । अपना सर्वस्व गुरुचरणों में न्योछावर करता है । गुरु को क्या चाहिये....वे तो अपने शिष्यों को भवसागर से पार कराना चाहते हैं । वे चाहते हैं कि जिस परम आनंद के साम्राज्य में वे निवास करते हैं, उनके शिष्य भी वहीं रहें । परंतु जीव अपने अहंकार को छोड़ नहीं सकता । शिष्य को गुरुचरणों में मात्र अपना अहंकार समर्पित करना है, जिससे गुरुदेव जीव को परमात्मा की प्राप्ति करा सकें ।

गुरुदेव के चरण उनके आचरण के प्रतीक हैं । गुरुदेव जिस प्रकार देहभाव से ऊपर उठकर आत्मभाव में स्थित रहते हैं, जिस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया से अलिप्त रहते हैं, उसी प्रकार का आचरण शिष्य को करना चाहिये । गुरुदेव से प्रेरणा लेनी चाहिये । गुरुदेव के शरीर का नहीं, गुरुदेव के मुखारविंद का भी नहीं, परंतु गुरुदेव के चरणों का महत्त्व

इसीलिये अत्यधिक है, क्योंकि उनका आचरण शिष्यों को परमात्म तत्त्व की ओर अग्रसर करता है ।

गुरुदेव दो प्रकार से शिष्यों को समझाते हैं । एक तो वैखरी वाणी से सत्संग के द्वारा शिष्यों को सदुपदेश देते हैं । दूसरा, अपने व्यवहार द्वारा, अपने आचरण द्वारा शिष्य को किस प्रकार रहना चाहिये, यह समझाते हैं । श्री गुरुदेव का नियम, संयम, शील, संतोष, दूसरों के प्रति प्रेमभाव, करुणा, सहिष्णुता आदि गुण गुरुदेव के सानिध्य से भी यदि हम नहीं सीख सकते, तो वह सानिध्य किस काम का ? वह सानिध्य मात्र अहंकार को और बढ़ावा देने का निमित्त बन जाता है । आचरण से क्या हम तो वैखरी वाणी को भी समझना नहीं चाहते । फिर किस प्रकार गुरुदेव हमारी मदद कर सकते हैं?

शिष्य की गुरुदेव में निष्ठा चाहिये । नहीं तो ब्रह्मा भी गुरु के रूप में मिल जाए, बिना निष्ठावाले शिष्य की वे चाहते हुए भी मदद नहीं कर सकते । ऐसे शिष्य मात्र नाम के शिष्य बने रहते हैं।

गुरु उनको कहा जाता है, जिसने अपनी अध्यात्म यात्रा समाप्त कर ली है, परम-तत्त्व को प्राप्त कर लिया है, परमात्मा को अपने अंदर प्रगट कर लिया है । उन्होंने परमात्मा की प्रेरणा से – उनके आदेश से अन्य जीवों के उद्धारार्थ अपने अमूल्य समय का, अपनी शक्तियों का और अपनी साधना का उपयोग करना स्वीकार किया है । गुरु मानव-देह में स्थित परमात्मा का प्रेममय, ज्योतिर्मय, तेजोमय स्वरूप है । गुरु-शिष्य का संबंध माता-पुत्र या पिता-पुत्र का होता है । यह संबंध सूक्ष्म है, मानसिक है और शाश्वत है । माता-पिता का संबंध देह के पूरे होते पूरा हो जाता है । परंतु गुरु-शिष्य का संबंध पूरा नहीं होता । शिष्य वह है जो स्वयं गुरु के शासन में रहना स्वीकार करे । गुरुदेव के एक-एक शब्दों को शिरोधार्य करे, अपने जीवन में, अपने व्यवहार में उतारे ।

गुरु शिष्य को संप्रदाय का मंत्र प्रदान करते हैं जिससे शिष्य को एक दिशा मिलती है । भटकना छोड़कर वह अपनी साधना शुरू कर सकता है । अध्यात्म पथ पर, जहाँ वह रुका हुआ है, वहाँ से आगे यात्रा शुरू कर सकता है ।

मंत्र दो प्रकार के होते हैं - चैतन्य मंत्र और जड़ मंत्र । जड़ मंत्र वह है जो किसी पुस्तक से प्राप्त किया हो, अथवा किसी ऐसे व्यक्ति से लिया हो, जिसने उस मंत्र को सिद्ध नहीं किया हो । उन मंत्रों में कोई शक्ति नहीं

होती है । वह शुष्क, निष्प्रभावी शब्दों का समूह है । वह लाभ देता भी है, तो जन्मों-जन्म बीतने के बाद। चैतन्य मंत्र वह है, जो स्वयं आत्मसाक्षात्कार कर के, अपनी शक्ति को जाग्रत कर के मंत्र का दान किया हो । ऐसा मंत्र साधक को तुरंत फलदायी बनता है ।

जब शिष्य ऐसे मंत्र का जप करता है, तब गुरु की शक्ति साधक के भीतर कार्य करने लगती है और साधक की सुषुप्त शक्ति जाग्रत होने लगती है । शिष्य का जीवन एक नयी दिशा पकड़ लेता है । शास्त्रों में कहा है – *मननात् त्रायते इति मन्त्रः* .... मन्त्र वह है जो मनन करनेवाले को, जप करनेवाले को तार देता है । मंत्र भगवान की चैतन्य शक्ति है ।

गुरुदेव ने वह मंत्र अपने गुरुदेव से प्राप्त किया है । इस प्रकार गुरु परंपरा से जपा गया यह मंत्र अत्यंत शक्तिशाली होता है । शब्द ब्रह्म है और वह अक्षर अर्थात् नाश न होनेवाला है । इसलिये युग-युग से जपे गये इस मंत्र की आध्यात्मिक ऊर्जा अवकाश में एकत्रित होती रहती है, संग्रहीत होती रहती है, जो गुरु द्वारा प्राप्त होने से साधक में भी वह आध्यात्मिक ऊर्जा कार्यरत होने लगती है और इस प्रकार से साधक को अल्प साधना से अधिक लाभ मिलता है ।

मंत्र का विज्ञान भी बड़ा अद्‌भुत है । हमारी देवनागरी भाषा - संस्कृत भाषा के शब्द उत्पन्न कैसे हुए ? इस को समझने के लिये थोड़ा योग-शास्त्र देखना पड़ेगा । हमारे ऋषि-महर्षियों ने ध्यान में लोक-लोकांतर का और शरीर के भीतर का भी दर्शन किया था। ऐसे ही उन्होंने शरीर के सात चक्रों को शरीर में कार्यरत देखा। ये सात चक्र हैं मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार । मानव की चेतना के विभिन्न स्तर और उसके विकास को प्रदर्शित करते हैं। भिन्न-भिन्न संख्या की पंखुड़ियों से इन छह चक्रों की रचना हुई है। सातवाँ चक्र **सहस्रार** शीर्ष ऊर्ध्व है। मूलाधार की ४ पंखुड़ियाँ, स्वाधिष्ठान की ६, मणिपुर की १०, अनाहत की १२, विशुद्ध की १६ और आज्ञाचक्र की २ पंखुड़ियाँ हैं । कुल मिला कर ५० संख्या हुई । संस्कृत के वर्णाक्षर भी ५० हैं ।

मूलाधार की चार पंखुड़ियों पर श,ष,स और व शब्द अंकित हैं । जब ये शब्द बोले जाते हैं, तब मूलाधार की उन पंखुड़ियों पर कंपन होता है । ऋषि-मुनियों ने ध्यान में पंखुड़ियों पर ये शब्द देखे और ध्यान से बाहर आने पर उस शब्द की आकृति को मिट्टी पर अंकित कर दिया। बाद में

अलग-अलग ध्वनि का उच्चारण करके किस ध्वनि से उस पंखुड़ी पर कंपन होता है, उसका निरीक्षण किया । वर्णाक्षरों के विभिन्न संयोजन से शब्दों की रचना हुई । शब्दों की विभिन्न रचना, उसके साथ जुड़े भाव और उसके प्रति व्यक्ति की इच्छा बहुत असरकारक सिद्ध हुई है । "राम" शब्द के ही वर्णाक्षर "मरा" शब्द में हैं, परंतु उसके प्रति जो भाव है, उस से शब्द का तात्पर्य और कंपन में अंतर आ जाता है । " राम " शब्द के साथ हमारी संस्कृति, श्रीराम का स्वरूप, उनकी करुणा, उदारता, महानता का विचार मन को आनंद की अनुभूति कराता है । जब कि " मरा " शब्द मृत्यु का पर्याय होने से कुछ दुःख की वेदना को जन्म देता है अर्थात् कंपन आवृत्ति ही बदल जाती है ।

चक्रों की पंखुड़ियों का कंपन विभिन्न स्तर पर विभिन्न होता है । मणिपुर चक्र में कंपन से **परावाणी** का उद्‌भव होता है, अनाहत से **पश्यन्ति**, विशुद्ध से **मध्यमा**, और तीनों मिलाकर कण्ठ प्रदेश में स्थित स्वर पेटी में आकर बाहर जो आती हैं, स्थूल रूप से हम जिसे सुन सकते हैं, उसे वैखरी वाणी कहते हैं । वाणी के उद्‌भव का कंपन जितनी कम पंखुड़ियों से होता है, उसकी तरंगें अधिक दूर तक फैलती हैं । इसलिये **वैखरी वाणी** की तरंगें मात्र आसपास ही सुनाई देती हैं, जो सामान्यतः हम सब सुन सकते हैं । जिस में क्षमता है, वे परावाणी से दूर-दूर तक संदेश भेज सकते हैं अथवा सुन सकते हैं अर्थात् किसी के विचारों को भी सुन सकते हैं ।

जिस प्रकार टी.वी. रेडियो या मोबाइल फोन की तरंगें हमारे आसपास हमेशा विद्यमान रहती हैं, परंतु उसे सुनने की क्षमता हमारे पास नहीं है, मात्र उसके लिये बनाये गये यंत्र के द्वारा ही हम उसे सुन सकते हैं । ठीक उसी प्रकार मध्यमा, पश्यन्ति और परावाणी क्रमशः अधिकाधिक शक्तिशाली होती जाती हैं, परंतु उसे सुनना सामान्य लोगों के बस का नहीं है । उसे तो महापुरुष अपनी उच्च चेतना द्वारा ग्रहण कर लेते हैं ।

प्रत्येक शब्द की आकृति, उच्चारण और आकार इस प्रकार निश्चित हुआ है । भिन्न-भिन्न चक्रों के भिन्न-भिन्न बीजमंत्र भी हैं । बीजमंत्रों का उच्चारण उन चक्रों पर सामान्य कंपन का नहीं, परंतु भूकंप का असर करता है । उन वर्णाक्षरों का योग्य उपयोग करके उन चक्रों को जाग्रत किया जाता है, जो साधक को साधना में आगे बढ़ने में सहायक होता है ।

शब्द और ध्वनि की तरह ही तरंग से रूप की आकृति भी उत्पन्न होती है । आजकल तो टी.वी. का उदाहरण सामने ही है । टी.वी. हजारों तरंगों को पकड़ कर उसका रूपांतरण ध्वनि, शब्द और आकृति या रूप में

करता है । स्तोत्र में भी यही विज्ञान काम करता है । स्तोत्र रचना का आधार ध्वनि तरंग के ऊपर होता है। इसी को स्तोत्र का वाङ्मय रूप कहा जाता है । जिन शब्दों के साथ भाव मिला कर जिसका प्रत्यक्षीकरण किया जाता है, उन शब्दों को उनका वाङ्मय स्वरूप माना जाता है । रामरक्षा स्तोत्र मात्र शब्द रचना या श्लोक नहीं है, वह श्रीराम का वाङ्मय रूप है । श्रीरामचरितमानस भी भगवान श्रीराम का वाङ्मय स्वरूप है ।

उदाहरणार्थ, अथर्वशीर्ष की शब्द रचना ही ऐसी है कि यदि उसे शुद्ध उच्चारण और भावसहित पाठ किया जाए, तो श्लोक के शब्द तरंगों से धीमे-धीमे गणपति भगवान की आकृति स्पष्ट देखने को मिलती है । इसलिये उन को सन्मुख देखते हुए उसमें कहा गया है - ***त्वमेकं केवलं कर्तासि । त्वमेव केवलं हर्तासि*** । .... आदि-आदि .....। स्तोत्र के कई प्रकार हैं । उसका एक प्रकार कवच है । दूसरा हमारे आराध्य को प्रसन्न करने के लिये स्तुति है । तीसरा कृतज्ञता स्तुति है ।

फ्रांस की एक घटना है । एक बहन पियानो पर समुद्र किनारे बैठ भाव सहित पियानो बजा रही थी । उसका आधा पियानो उसकी गोद में और आधा पियानो रेती पर टिका हुआ था । जब वह बैठी, तब वहाँ कुछ भी नहीं था । पियानो बजा कर सम्मोहक अवस्था से जब वह बाहर आयी, तब उसने देखा कि रेती पर कोई स्त्री की आकृति बनी हुई है उसे आश्चर्य हुआ। पियानो तो वह हमेशा बजाती थी, परंतु ऐसा कभी नहीं हुआ था। हाँ ! आज वह जो धुन बजा रही थी, उसमें बहुत तन्मयता से जुड़ गयी थी । वह धुन थी ही इतनी सुंदर...भले ही उसका अर्थ भी उसे पता नहीं था ।

उसने स्त्री की आकृति के बारे में किसी परिचित से पूछा, यह आकृति किसकी है ? उसने कहा, मैं तो नहीं जानता, परंतु भारत प्रवास में मैंने इस आकृति को देखा है । बाद में किसी भारतीय को बुलाया गया । भारतीय ने तुरंत पहचान लिया, यह तो देवी सरस्वती की आकृति है । उसने उस बहन को पूछा, " आप क्या बजा रही थीं ?" वह बहन नहीं जानती थी, वह क्या बजा रही थी, परंतु किसी भारतीय मित्र ने सिखायी थी, वह बार-बार बजा रही थी क्योंकि उसे बहुत अच्छी लगती थी । जब उस धुन को उसे सुनाया गया, तो पता चला कि वह देवी सरस्वती की स्तुति ही गा रही थी । यह है मंत्र और भाव का प्रभाव....।

मंत्रों को रोग-निवारण के लिये भी उपयोग में लाने का विज्ञान है । रोग के अनेक कारण हो सकते हैं । कुछ रोग शरीर की कुछ ग्रंथि से

निकलनेवाले स्राव की मात्रा कम-ज्यादा होने से होते हैं। प्रज्ञा-अपराध भी रोग का एक अन्य प्रकार है । बाहुबल, विद्याबल, बुद्धिबल, समाजबल, सत्ताबल और शस्त्रबल का अनुचित उपयोग करके किसी को पीड़ित किया जाए, तो उसकी हाय व्यक्ति को रोगरूप में मिलती है, जिसे प्रज्ञा-अपराध कहा जाता है, जिसका कोई उपाय नहीं है। मानसिक कारण से भी चक्रों पर दुष्प्रभाव होता है, जो रोग का रूप ले लेता है।

आजकल हम ऐसा मानने लगे हैं कि विज्ञान ने बहुत प्रगति की है । अनेक आधुनिक उपकरणों के द्वारा रोगों का उपचार होने लगा है । परंतु हमारे ऋषियों के पास वह विज्ञान था, जिसमें बाह्य उपकरणों के बिना ही वे रोग की निवृत्ति कर देते थे । मंत्र, स्तोत्र या पाठ के रटने से ही वह व्याधि को वे दूर कर सकते थे, जिसके लिये आज बड़े-बड़े उपकरणों की आवश्यकता हो रही है । उदाहरणार्थ किसी को पीठ के मणके का दर्द हो, उसे डॉक्टर इन्फ्रा रेड लाइट का सेंक करने की सलाह देते हैं। परंतु यदि सेंक के लिये उपयोग में लिये जानेवाले इन्फ्रा रेड लाइट की तरंग लंबाई और तरंग संख्या जितनी ही तरंग लंबाई और तरंग संख्या के ध्वनि तरंग उत्पन्न करनेवाले मंत्र का जप किया जाए, तो उसी सेंक का असर शरीर पर अवश्य होगा ही। विषयांतर बहुत अधिक हो जाने के डर से इसकी चर्चा यहीं पूरी करते हैं । अस्तु...।

गुरु के प्रति शिष्य की निष्ठा यदि सच्ची है, तो गुरु प्रदत्त मंत्र से उसका उद्धार अवश्यंभावी है । निष्ठा के प्रभाव से ही मंत्र की सिद्धि होती है । इसको समझने के लिये एक उदाहरण आवश्यक है । एक बार एक साधक एक महात्मा के पास पहुँचा, बोला,

" गुरुदेव! मुझे आत्मदर्शन के लिये मंत्र चाहिये । "

गुरुदेव ने पूछा " ठीक है वत्स, मुझे देखो, क्या दिखाई देता है। "

शिष्य बोला " गुरुदेव, मुझे तो कुछ भी नहीं दिखाई देता। "

" तब तो तुम आत्मदर्शन के मंत्र के अधिकारी नहीं हो, वत्स ! बारह वर्ष तपस्या करके आओ । बाद में देखेंगे। " शिष्य गुरुदेव के प्रति, उनके शब्दों के प्रति अत्यंत निष्ठावान था । उसने गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर ली । वह गया और बारह वर्ष तपस्या की । पुनः आया । पुनः गुरुदेव ने पूछा, " अब कहो, वत्स ! क्या दिखाई देता है । "

" गुरुदेव ! आपका शरीर दिखाई देता है ...। "

" बारह वर्ष पुनः तपस्या करो....। " गुरुदेव ने कहा । शिष्य गया और बारह वर्ष के बाद पुनः पहुँचा । पुनः गुरुदेव ने वही प्रश्न किया ।

" अब क्या दिखाई देता है ? "

" आपका तेजोमय शरीर ...। " शिष्य ने उत्तर दिया । गुरुदेव ने पुनः बारह वर्ष तपस्या के लिये भेज दिया । इस बार जब बारह वर्ष बाद शिष्य गुरुदेव के पास पहुँचा, तो साधक के नेत्रों से अश्रुपात होने लगा ।

" क्या दिखाई देता है ? " गुरुदेव ने पूछा ।

" प्रभु, आप में और परमात्मा में कोई अंतर ही नहीं है...गुरु बोधमय है, ज्ञानमय है । मैं मूर्ख यह जान ही न पाया । "

" ठीक है वत्स ! अब तुम दीक्षा के लिये योग्य बने । " गुरुदेव प्रसन्न हो गये । इस प्रकार गुरुदेव देखते हैं शिष्य की निष्ठा, श्रद्धा और समर्पण । वे देखते हैं आज्ञा-पालन की शिष्य की तत्परता। सद्गुरु शिष्य से और कुछ अपेक्षा नहीं रखते, सिवाय शिष्य परमार्थ पथ पर अग्रसर होकर परमात्मा की प्राप्ति करे।

नमो नमस्कारम्........हम इस गुरु परंपरा को नमस्कार करते हैं । नमः शब्द सब मंत्रों में झुकना सिखाता है । मंत्र का प्रभाव मात्र शब्दों से नहीं, परंतु उन शब्दों के भाव को पकड़कर अथवा समझकर होता है। उदाहरणार्थ, " भोजन करो ... भूख मिटेगी। " यह मंत्र जपने से भूख कभी नहीं मिटती। उसी प्रकार नमः शब्द बोलने से नमन नहीं हो जाता ।

हम बोलने के लिये नमः बोलते हैं, परंतु भावपूर्वक नमन नहीं करते। प्रत्येक मंत्र में नमः शब्द होता है, हम रटने के लिये बोल भी देते हैं, परंतु उसके सही अर्थ को समझते ही नहीं हैं । वह मंत्र हमें कैसे लाभ कर सकता है ?

मंत्र के अर्थ को समझकर मंत्र जप करना चाहिये। आत्मकल्याण के लिये अपने-आपको परमात्मा का दास-सेवकसमझना चाहिये। यहाँ एक उदाहरण देना जरूरी है।

एक महात्मा थे ... वे एक बार जंगल से गुजर रहे थे । उन्होंने देखा एक शिकारी पक्षियों को जाल में फँसाकर मारने आया है। उनके हृदय में करुणा आ गयी। उन्होंने पक्षियों को कहा.......मेरी बात ध्यान से सुनो और रट लो.... " शिकारी आता है, जाल बिछाता है, दाना डालता है, उसमें फँसना नहीं । "

" ठीक है। " पक्षी आनंदित हो गये । महात्मा जी ने उनके उद्धारार्थ यह मंत्र दिया था । उन्होंने मंत्र को रटना आरंभ कर दिया । महात्मा प्रसन्न हो गये । चलो, अब ये पक्षी शिकारी के जाल में फँसेंगे नहीं । महात्मा आगे बढ़ गये । कुछ देर बाद जब पुनः महात्मा लौटे तो देखा कि सब पक्षी जाल में फँसे हुए हैं और साथ-साथ रट भी रहे हैं...

" शिकारी आता है, दाना डालता है, जाल बिछाता है, उसमें फँसना नहीं ।"

महात्मा को बहुत दुःख हुआ । वे तो पक्षियों को फँसने नहीं देना चाहते थे। परंतु क्या करें ? ऐसे अर्थ को न समझ कर मंत्र जपने से क्या फायदा ? मंत्र के अर्थ का अनुसंधान करना चाहिये, तभी मंत्र फलदायी बनता है।

उसी प्रकार हम नमः शब्द बोलते हैं, परंतु उसका अर्थ समझ कर उसे व्यवहार में उतारते नहीं हैं । फिर मंत्र का प्रभाव कैसे होगा ? परमात्मा के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को देखते हुए झुकना सीखना चाहिये ।

सीयाराममय सब जग जानी । करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी ।।

किसी के साथ बैर नहीं, किसी के साथ झगड़ा नहीं, सब जगह सब में परमात्मा को देखते हुए झुकना चाहिये, नमन करना चाहिये । यदि हम वह नहीं कर सकते तो मंत्र में नमः शब्द बोलने का कोई अर्थ नहीं ।

जब गायत्री मंत्र बोलते हैं, तो उसमें हमारी बुद्धि को परमात्मा को अर्पण करना है । वह मंत्र गायत्री छंद में लिखा गया है । इसलिये उसको गायत्री मंत्र कहा जाता है । उसमें भर्गो देवस्य....कहा गया है, देवी नहीं है....। इस मंत्र में कहा जाता है कि हम परमात्मा के तेज का ध्यान करते हैं, जो सृष्टि का सर्जन, पालन और परावर्तन करते हैं । वह हमारी बुद्धि को सद्कर्मों की ओर प्रेरित करें । मंत्र का अर्थ समझ कर जप करना चाहिये ।

नमन वह विधि है, जिस से जीव का अहंकार विसर्जित होता है। जीव को यह भास होता है कि उसका अस्तित्व कितना लघु है। अपनी वास्तविकता का ज्ञान कराने, अहंकार को गलाने, नमस्कार सहित गुरु पूजन अति आवश्यक है। यदि सही रूप में समझकर गुरु पूजन किया जाए तो जीव का अहंकार पर्याप्त हद तक विसर्जित हो सकता है ।

हरत सर्व व्याधि शोक सन्ताप दुःख दारिद्र
कलह कल्पना रोग पीड़ा

सकलविघ्न खण्ड खण्ड ।।

चराचर विश्व में जो व्याप्त है, उस गुरुतत्त्व की अभिव्यक्ति जिस देह में हुई है, उसका पूजन एवं स्मरण करने के बाद आध्यात्मिक रामरक्षा की फलश्रुति बताते हुए स्वामी जी कहते हैं, कि इस रामरक्षा का पाठ करने से सभी प्रकार के रोग, दु:ख, कष्ट का नाश होता है, दरिद्रता का भी नाश होता है । मानव जीवन में जहाँ-जहाँ अभाव लगता है उन अभावों की पूर्ति हो जाती है । सभी प्रकार के झगड़ों का, कलह का शमन हो जाता है ।

हम देखते हैं कि भवाटवी में भटकते जीवों को अनेक प्रकार के दु:खों का सामना करना पड़ता है । विश्व में दो प्रकार की ताकतें देखने को मिलती हैं । दैवी संपदावाली ताकतें और आसुरी संपदावाली ताकतें... । ***दैवी संपदा विमोक्षाय*** । जब जीव परमार्थ के पथ पर हरि-गुरु कृपा से आगे बढ़ने को तत्पर होता है, तब दैवी ताकतें उसकी सहायता करती हैं और आसुरी ताकतें उसमें विघ्न डालती हैं । जब तक जीव आसुरी भाव में बँधा रहता है, तब तक वह आगे नहीं बढ़ सकता । अहंता और ममता के बंधन वह छोड़ नहीं सकता ।

परंतु स्वामी जी सांत्वना देते हैं कि स्तोत्र के पाठ से आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, सभी प्रकार की पीड़ाओं का नाश हो जाता है । इतना ही नहीं, इस स्तोत्र की वाणी सभी प्रकार के जीवों से निर्भयता प्रदान करती है; वह मुक्ति भी देती है ।

जो इस प्रकार से गुरुदेव के चरणारविंद में आश्रय ले लेते हैं, उनके जीवन में संपूर्ण व्याधि – दैहिक, दैविक और भौतिक ताप दूर हो जाते हैं । सन्ताप, शोक आदि का अभाव हो जाता है । जन्म-जन्म की व्याधि और दु:ख इस मंत्र को रटने से दूर हो जाते हैं । जन्म-जन्म की दरिद्रता मिट जाती है अर्थात् यह बोध हो जाता है कि हम परमात्मा के हैं । परमात्मा तो समस्त संसार के सम्राट हैं। क्या सम्राट की संतान कभी दरिद्र हो सकती है ?

जब हम अपने को संसार के व्यक्तियों के साथ जोड़ते हैं, तो हम दु:ख से नाता जोड़ते हैं । क्योंकि सब किसी-न-किसी दु:ख, कोई-न-कोई व्याधि से पीड़ित हैं । उनमें दरिद्रता विद्यमान है । वे अनेक प्रकार की आसक्ति में फँसे हुए हैं । परंतु जो सद्‌गुरुदेव के बताये हुए रास्ते पर चल कर परमात्मा के हो जाते हैं, उनसे संबंध जोड़ लेते हैं, उनकी दरिद्रता का

नाश हो जाता है अर्थात् वह संतोष को प्राप्त हो जाता है । उसे बाहर के किसी पदार्थ की अपेक्षा आकांक्षा नहीं रहती । किसी प्रकार की तृष्णा नहीं रहती और इसलिये वह दरिद्र नहीं रहता । दरिद्रता अर्थाभाव को नहीं, परंतु मन की दरिद्रता को कहा गया है ।

परमात्मा जन्म से पूर्व ही बालक के भोजन की व्यवस्था करते हैं, वह आगे नहीं करेंगे क्या ? परंतु देखा जाता है कि बहुत लोगों को भूखा रहना पड़ता है । सुबह से शाम परिश्रम करने पर भी भोजन जितना भी नहीं मिलता है । इसका कारण उन्होंने कभी अन्न को ठुकराया होगा, तिरस्कार किया होगा, अन्न का अनादर किया होगा, अथवा अन्न का आदरपूर्वक दान नहीं किया होगा । यह हमारे कर्म का फल है, प्रकृति किसी को भूखा रखना नहीं चाहती । इसलिये कर्म के विषय में सावधान रहना चाहिये।

हम एक बहुत संस्कारी और धर्मप्रिय व्यक्ति को जानते हैं, जिसने अपने आपको नपुंसक जाहिर किया है । परमात्मा की कृपा से उसको अपने पूर्व जन्म का भी ज्ञान हो गया है । वह व्यक्ति यह भी जानता है कि उसने पूर्व जन्म में अपने राजसी ठाठ के आवेश में कई कन्याओं पर बलात्कार और अत्याचार किये थे, जिसके परिणामस्वरूप उसे प्रकृति की तरफ से नपुंसक होने की सजा मिली है । कर्म के फल व्यक्ति को किसी-न-किसी रूप में भोगना ही पड़ता है ।

अन्नो ब्रह्म: । गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं .... जो अपनी आवश्यकता से अधिक अन्न को रखता है, वह चोर है । जो अपने लिये अन्न पकाता है, वह पापों को पकाता है । इसलिये गृहस्थ को भी परमात्मा के प्रसाद के लिये अन्न पकाना चाहिये । *छप्पन भोग छत्तीसों व्यंजन, बिन तुलसी हरि एक न मानी...नमो नमो तुलसी महारानी......*परमात्मा के लिये अन्न पकाकर तुलसी रखकर परमात्मा को अर्पण करके ही अन्न ग्रहण करना चाहिये । इससे बुद्धि परिष्कृत होती है ।

कलह....संसार में जितने भी झगड़े हैं, वह द्वैत बुद्धि के हैं । जब सर्वत्र परम सत्ता को देखा जायेगा, द्वैत बुद्धि खत्म होगी, अपेक्षा कम होगी तो कलह भी नहीं रहेगा ।

कल्पना...मानव नाना प्रकार की कल्पना करते हुए अपना जीवन व्यतीत करता है । उसकी कल्पना की, अपेक्षा की परिपूर्ति होती है, तब वह आनंदित होता है और पूर्ति नहीं होती तब वह दुःखी होता है । स्वामी जी

कहते हैं, जब जीव हरि-गुरु की शरण में जाता है, तो कल्पना भी गायब हो जाती है। जगत का, सृष्टि का वास्तविक स्वरूप उसके सामने आ जाता है ।

दु:ख दारिद्र.....दु:खों का आत्यंतिक अभाव हो जाता है । मन जब नियंत्रण में आ जाता है, तब सुख कैसे और दु:ख कैसे ? दरिद्रता भी भौतिक और मानसिक, दो प्रकार की होती है । साधना साधक को दोनों दरिद्रताओं से दूर कर देती है ।

रोग पीड़ा का भी नाश हो जाता है । रोग क्यों होता है...*करहिं पाप पावहिं दु:ख भय शोक वियोग*....। दु:ख, भय, रोग, शोक ये सब पाप का परिणाम हैं। ... जो व्यक्ति गुरुदेव के चरणारविंद में सम्यक प्रकार से शरणागत है, जिसका अहंकार गलित हो गया है, उसके रोग सब दूर हो जाते हैं । बाद में तो जीवनमुक्त को भी प्रारब्ध को भोगना पड़ता है । उसको रोका नहीं जा सकता । संचित कर्मों को तो ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाना है । परंतु प्रारब्ध कर्म अवश्यमेव भोगने पड़ते हैं । महापुरुषों के जीवन में जो रोग दिखाई देते हैं, वह उनका प्रारब्ध है । परंतु वह प्रारब्ध उन्हें दु:खी नहीं करता ।

छोटे बच्चे का रक्षण माता करती है, परंतु जब बच्चा समझदार हो जाता है, तो उसे अपनी रक्षा स्वयं करनी होती है । उसी प्रकार जो परमात्मा के सामने छोटे बच्चे बने रहते हैं, उनका रक्षण परमात्मा निश्चय करते हैं ।

सकल विघ्न खंड खंड .....साधक के सब प्रकार के विघ्न नष्ट हो जाते हैं । अथवा साधक की दृष्टि ही बदल जाती है । वह परमात्मा के शरणागति के भाव को इतना दृढ़ कर चुका है, कि कोई विघ्न उसे विघ्न लगते ही नहीं हैं । जो सामान्य व्यक्ति को विचलित कर देता है, वही संयोग या वही विघ्न शरणागत साधक को बिलकुल विचलित नहीं कर सकता। उसके लिये तो सब विघ्न खंड खंड हो जाते हैं।

तस्मै श्री रामरक्षा निराकार बानी
अनुभव तत्त्व, निर्भय मुक्ति जानी ।

रामरक्षा वास्तव में निराकार वाणी है । वाणी तीन प्रकार की होती है - परा, पश्यंति, मध्यमा और वैखरी। नाभि से - मणिपुर चक्र से परा उत्पन्न होती है। फिर हृदय से - अनाहत्त चक्र से पश्यंति, फिर कंठ से - विशुद्ध चक्र से मध्यमा और तीनों मिलकर अंत में वैखरी वाणी अस्तित्व में आती है । परंतु सामान्य लोग मात्र वैखरी वाणी को ही समझ सकते हैं । रामरक्षा

निराकार वाणी है । उसे शब्दों से समझाया नहीं जा सकता । उसे तो ध्यान के द्वारा, योग के द्वारा, जप के द्वारा स्वयं ही समझना होगा । जब तक ध्यान में नहीं उतरते, तब तक रामरक्षा समझ में नहीं आयेगी । वह मात्र और मात्र अनुभव तत्त्व है ।

सृष्टि में आधिभौतिक जगत के नियंत्रण करने हेतु आधिदैविक जगत का अस्तित्व है । भारतीय दर्शन उसे स्वीकार करता है । वहाँ भिन्न-भिन्न देवताओं को भिन्न-भिन्न कार्यभार दिया गया है । परमात्मा अपने-आपमें तटस्थ कूटस्थ बनकर बैठे हुए हैं । उनकी उपस्थिति मात्र से सब कार्य सुचारु रूप से चल रहे हैं ।

परमात्मा शाश्वत शांताकार हैं, बोधमय हैं। हम सब विकारों के वशीभूत हो जाते हैं, परमात्मा के वशीभूत विकार होते हैं । जो परमात्मा को जान लेता है, उनसे जुड़ जाता है, भक्ति के द्वारा गुरुदेव परमात्मा से जीव को जोड़ने का कार्य करते हैं । जीव अपने पुरुषार्थ से नहीं जुड़ सकता ।

श्री अध्यात्म रामरक्षा वास्तव में तो निराकार बानी है, जिसे शब्दों से न तो बोला जा सकता है, न ही श्रवणों से सुना जा सकता है । क्योंकि यह रामरक्षा एक साधना पथ है, उसका वर्णन वास्तव में संभव नहीं है । वह तो मात्र अनुभव की बानी है, क्योंकि जब जीव को इसकी अनुभूति होती है, तभी इस रामरक्षा में कही गयी निराकार वाणी क्या है, वह समझ में आना संभव है ।

तब ही वह चराचर विश्व में निर्भय होकर मुक्ति के पथ पर अग्रसर होता है । वह निर्भय मुक्ति पद प्राप्त कर लेता है । भय हमेशा दूसरों से होता है, और रामरक्षा का साधन करनेवालों को अद्वैत पद की प्राप्ति होती है, इसलिये द्वैत भाव से मुक्ति मिलती है । वह सर्वत्र सदैव सब भूतों में, चराचर विश्व में, मानव-पशु-पक्षी-प्राणियों में मात्र परमात्मा का दर्शन करता है, इसलिये उसे कहीं कोई दूसरा दिखाई नहीं देता । और जब कोई दूसरा है ही नहीं, तो फिर भय किस से और क्यों ? अपने-आपसे तो कभी कोई भयभीत होता नहीं है ।

स्तोत्र के शब्द मूल हैं अर्थात् जीवात्मा को अपने मूल तत्त्व तक पहुँचने में सहायता करते हैं, अर्थात् स्थूल का दर्शन तो कराते हैं ही साथ में ध्यानावस्था में स्थित कर देते हैं। यह बात अनुभव सिद्ध है, इस में शंका का कोई कारण नहीं है ।

निर्भय मुक्ति...मुक्ति का अर्थ है अज्ञानता से मुक्ति...। हमें मुक्ति का सही अर्थ ही पता नहीं है । हम मुक्ति को जन्म-मरण के फेरों से मुक्ति की बात सोच लेते हैं । क्योंकि कहा गया है..... *यद् गत्वा न निर्वतंते तद्धाम परमं मम*...।

परंतु यदि हम जैसा समझते हैं वही सत्य है, तो फिर भगवान श्रीकृष्ण क्यों कहते हैं.....हे अर्जुन ! तेरे और मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं, जिसे तू नहीं जानता, परंतु मैं तो जानता हूँ ।

क्योंकि अगर भगवान श्रीकृष्ण भी जन्म लेकर बार-बार आते हैं, तो मुक्ति की परिभाषा वह तो कदापि नहीं हो सकती, जो हम समझते हैं । भले ही भगवान के आने और हमारे आने में आसमान और जमीन का अंतर है । परंतु जन्म लेकर आना बंधन का कारण नहीं हो सकता । मुक्ति अज्ञानता से होती है, होनी चाहिये । क्योंकि आत्मा तो सदैव मुक्त है, और शरीर की मुक्ति मृत्यु से होती है । पंच महाभूत से बना शरीर परिवर्तनशील है । उसका रूपांतरण होता रहता है । उसमें किसी को लंबे समय तक पुनः जन्म लेना नहीं पड़ता, तो किसी को बहुत जल्दी-जल्दी जन्म लेकर आना पड़ता है ! जिसे बहुत लंबे समय तक परमात्मा के परमधाम में निवास का मौका मिलता है, उसे ही लोग मुक्ति समझते हैं, कहते हैं । परंतु वास्तविक मुक्ति तो अज्ञान से मुक्ति है ।

यह जीव - ***काल कर्म सुभाव गुन धेरा, फिरत सदा माया कर प्रेरा*** - काल अर्थात् सूर्य के सापेक्ष में समय की जो इकाई है, जो युनिट है, उसे काल की संज्ञा दी गयी है । कलियुग, द्वापरयुग, त्रेतायुग और सतयुग । मात्र परमात्मा ही कालातीत है । वहाँ न तो भूत है, न भविष्य है । जीव जब मन-बुद्धि-अहंकार से ग्रस्त होता है, तब वह काल में बँध जाता है, भूत-भविष्य में बँध जाता है, कर्म में बँध जाता है । जीव जीवत्व भाव से ऊपर उठ जाता है, तब जीव मुक्त हो जाता है । उसे किसी से भय नहीं रहता, वह अभय बन जाता है ।

" ऋते ज्ञानात् मुक्ति " आत्मबोध हो जाए, जगत का, स्व का, परमात्म तत्त्व का बोध हो जाए वही मुक्ति है । अभी हमारी स्थिति वह है कि हम आत्मा को भी जन्म-मरणधर्मा मान लेते हैं । ....***जातस्य ही ध्रुवो मृत्युः*** ।

यदि स्वामी जी श्रीराम जी को साकार स्वरूप में जानते हैं, यदि रामरक्षा उसी श्रीराम जी द्वारा रक्षा की बात है, तो स्वामी जी फिर क्यों निराकार बानी की बात करते हैं ? स्वामी जी के श्रीराम तो निर्गुण निराकार

भी हैं, सगुण साकार भी हैं, और उन दोनों रूप से परे भी हैं । वास्तव में अभी उस राम तत्त्व की बात है, जो चराचर विश्व में, रोम-रोम में रमण करता है, और सगुण-निर्गुण से परे है ।

भक्ति परम प्रेम का स्वरूप है । नारद जी भक्तिसूत्र में कहते हैं..... *स तस्मिन् परम प्रेमरूपा*.... प्रेम का स्वभाव है, वह द्वैत को मिटा देता है ए। प्रेमी प्रेमास्पद में विलीन हो जाता है । भक्त परमात्मा से जुड़ जाता है । बद्ध जीव पर करुणा कर के मुक्त जीव उसे परमात्मा तक पहुँचा देते हैं । मुक्ति का आनंद भक्ति में है । मुक्त जीव भी भक्ति करते हुए जीवनयापन करते हैं ।

ऋषि अगस्त्य के शिष्य शरभंग भगवान श्रीराम का दर्शन करने रुक गये थे । योगियों की मृत्यु उनकी इच्छानुसार होती है । उन्होंने प्रभु से भेद भक्ति की याचना की थी, इसलिये उनकी मुक्ति नहीं हुई। भक्ति स्वतंत्र है, जब कि मुक्ति ज्ञान और विज्ञान के अधीन मानी गयी है । ***मुक्ति अधीन ज्ञान विज्ञाना*** कहा गया है ।

ज्ञान के पीछे गिरने का भय रहता है...परंतु निर्भय मुक्ति में जीव का पतन कभी नहीं हो सकता । मुक्त देवताओं को भी बंधन में पड़ना पड़ता है । मात्र भगवान के भक्त ही निर्भय मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं । निर्भय पद, अभय पद और मुक्ति... ये तीनों में कोई भेद नहीं है। परमात्मा की शरणागति .... गुरुदेव की शरणागति के बाद गिरने का भय नहीं है । परमात्मा का जिसने हाथ पकड़ लिया है, वह कदाचित छूट सकता है, परंतु जिसका हाथ परमात्मा ने पकड़ा है, उसको निर्भय होकर मुक्ति मिलती है ।

बाँधिया मूल, देखिया स्थूल, गर्जिया गगन, धुनि ध्यान लागा ।
त्रिगुण रहित शील सन्तोष में श्रीरामरक्षा लिये प्राणी ॐकार जागा ।

अब स्वामी जी साधना संबंधी बातें करते हैं । योगी को क्या करना है, उसकी जानकारी देते हैं। साधक को किस मार्ग पर चलना है, उसकी पहचान कराते हैं। घेरंड संहिता में हठयोग की विस्तृत चर्चा है। महर्षि पतंजलि ने योग मार्ग का आठ सोपानों में वर्णन किया है । मत्स्येन्द्रनाथ आदि अन्य ऋषि-महर्षियों ने भी योग मार्ग का विवरण किया है । उन्होंने कुण्डलिनी शक्ति का जागरण करके परमात्मा से जुड़ना स्वीकार किया है ।

शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न बंध किये जाते हैं । उसमें मूल बन्ध, करने से अपान वायु का दबाव बढ़ता है, और उसके प्रभाव

से मूलाधार में अवस्थित साढ़े तीन चक्र में सर्पाकार रूप में पड़ी हुई कुण्डलिनी शक्ति का जागरण संभव होता है ।

मंत्रों के प्रभाव से भी कुंडलिनी शक्ति का जागरण हो सकता है । अन्य भी बहुत-सी ऐसी क्रियाएँ हैं, जिस से कुण्डलिनी जाग्रत हो सके । परंतु जब तक सुषुम्ना का मार्ग अवरुद्ध है, तब तक कुण्डलिनी जाग्रत भी हो जाए, तो भी कोई फायदा नहीं हो सकता । उससे तो लाभ के बदले अधिक हानि हो सकती है । इसलिये शरणागति योग ही हम सबके लिये उत्तम है । शरणागति में परमात्मा देखते हैं, पात्रता के अनुसार साधक को सहस्रार तक पहुँचा देते हैं । साधक को इसका बोध भी नहीं रहता ।

जिस प्रकार किसी ट्रेन से मुसाफिरी करनेवाला व्यक्ति जाग्रत रहने पर प्रत्येक स्टेशनों को देख सकता है, रास्ते का प्रत्येक अनुभव वह वर्णन कर सकता है, परंतु निद्राधीन व्यक्ति को कुछ भी पता नहीं रहता है । जब गंतव्य स्थान पर पहुँचता है, तभी निद्राधीन व्यक्ति को पता चलता है, कि अब वह अपने ध्येय पर पहुँच चुका है । ठीक उसी प्रकार साधना पथ में भी होता है । योगमार्ग का प्रवासी उस जाग्रत व्यक्ति की तरह रास्ते के प्रत्येक अनुभवों को जान सकता है, परंतु शरणागतिपूर्वक भक्ति मार्ग के प्रवासी को गंतव्य पर पहुँचकर ही ज्ञात होता है कि वह ध्येय को प्राप्त हो चुका है। इसलिये उसे अहंकार का भोग भी बनना नहीं पड़ता ।

महर्षि पतंजलि के योगमार्ग के अनुसार वृत्ति दो प्रकार की होती है । क्लिष्ट और अक्लिष्ट । साधना में प्रथम क्लिष्ट वृत्तियों को अक्लिष्ट वृत्ति द्वारा दूर किया जाता है । जैसे पैर में काँटा गड़ गया है, तो उसे काँटे से ही निकाला जा सकता है, बाद में उस काँटे को भी रखने की जरूरत नहीं है । पहले अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से की जाती है । अशुभ कर्मों की निवृत्ति शुभ कर्मों से की जाती है । बाद में दोनों से ऊपर उठना ही होता है । केवल पढ़ लेने से या केवल बातें सुन लेने से आत्मदर्शन नहीं हो सकता । स्वामी जी कहते हैं....

बाँधिया मूल... अर्थात् मूलबन्ध बाँध कर सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन या किसी भी स्थिर आसन पर बैठ कर स्थूल को देखना है। मूलबन्ध में सिद्धासन सबसे उत्तम माना जाता है । योगियों के लिये सिद्धासन श्रेष्ठ है । उससे मूलबन्ध आसानी से लग जाता है ।

शास्त्रकार कहते हैं, **पाष्णिभागेन सम्पीडययोनिमाकुंच येद्गुम् ।**
अपानमुर्ध्यआकृष्य मूलबन्धोभिधियते ।।

मूलाधार का संकुचन ही मूलवन्ध का वास्तविक अर्थ है । शरीर के निम्न भाग में, गुदाद्वार के निकट मूलाधार चक्र है । गुदाद्वार को संकोच कर ऊपर की ओर खींचने से मूलबन्ध लगता है । मूल अर्थात् जड़, दृढ़ता से जमा हुआ स्रोत या आधार, पैर, अधोभाग तल या नींव। मेरुदण्ड में प्राणशक्ति का वहन होता है, जिसका निचला छोर मूलाधार में है । यह नाड़ियों का गुच्छ-समूह है, जिसे आधुनिक विज्ञान ने भी स्वीकार किया है । मूलबन्ध से सूक्ष्म शरीर की सभी नाड़ियाँ उद्दीप्त हो जाती हैं ।

मूलबन्ध से प्राणों का अधोमुखी प्रवाह रुक जाता है, और प्राण ऊर्ध्वमुखी बनकर जीवात्मा को अपने स्वरूप तक पहुँचाने में सहायक होता है । अन्यथा मूलाधार में सुषुप्त पड़ी प्राण शक्ति कभी जाग्रत नहीं होती है । मूलबन्ध शक्ति को सक्रिय करता है ।

मूलबन्ध के अभ्यास से नाभि में स्थित अपान वायु, जिसका स्वाभाविक प्रवाह अधोमुखी है, सुषुम्ना में प्रवेश करने लगता है । वहाँ अपान वायु प्राणवायु से मिलती है । जब प्राणवायु नाभि के नीचे अग्नि के क्षेत्र में, अर्थात् मणिपुर चक्र में पहुँचती है, तो अग्नि अपान के संयोग से प्रचंड और प्रज्वलित हो जाती है । तब शरीर का ताप अत्यंत शक्तिशाली हो उठता है और कुण्डलिनी मानो निद्रा से जाग जाती है ।

इससे मूलाधार चक्र में उत्पन्न ऊर्जा का नियंत्रण और उन्मुक्ति होती है । एक ही साथ मूलाधार कई चक्रों पर लगता है । शारीरिक स्तर पर संकुचन और मूलाधार चक्र का नियंत्रण । जब कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है और अपनी निद्रा का त्याग करती है, तो चेतना के प्रसार की वाहिका होती है, जो व्यक्ति को अपनी अन्तर्जात संभावनाओं को विकसित करके एवं जन्म-मृत्यु के सांसारिक क्षेत्र के पार दिव्यता के स्तर तक उठने की योग्यता प्रदान करती है ।

मूलाधार चक्र के स्वामी गणपति हैं । मूलाधार को जाग्रत करने में यदि देह में जलन उत्पन्न हो जाए, तो दूर्वा का रस भी एक औषधि है, जिससे वह शमन हो सकती है । योग साधना का आरंभ ही मूलबन्ध से होता है, इसलिये गणपति ही सर्वप्रथम देवता हैं, जिनका पूजन करना चाहिये। गणपति को दूर्वा भी इसलिये चढ़ाई जाती है ।

जिस से चराचर सृष्टि की वास्तविकता, स्थूल और सूक्ष्म का भेद और अभेद सब समझ में आने लगता है । मूलबन्ध लगाने पर अपान, प्राण के साथ एक होकर सुषुम्ना में प्रवेश करता है । इस से नादाभिव्यक्ति होती

है। फिर नाद के साथ ही प्राण और अपान हृदयदेश से ऊर्ध्व प्रदेश में जाकर बिन्दु के साथ एकता स्थापित करके ऊपर उठने लगता है । इस से योग सिद्धि होती है ।

जब तक पवन तत्त्व का नाश नहीं होता, तब तक आकाश में ध्वनि होती रहती है और आकाश गरजता रहता है । इस समय सहज रूप में ही ब्रह्मरन्ध्र की खिड़की खुल जाती है ।

प्रथम दृष्टि से सीधी-सादी लगती इस क्रिया को यदि सही ढंग से किया जाए तो असर तत्काल होता है और यदि गलत ढंग से की जाए तो बहुत विपरीत असर होने की संभावना है। इसलिये किसी योग्य गुरु के संरक्षण में ही यह क्रिया करनी चाहिये।

देखया स्थूल ..... बन्ध लगा कर स्थूल शरीर को शांभवी मुद्रा या उन्मनी मुद्रा से दृष्टि को नासिकाग्र से निश्चित दूरी पर रखते हुए स्थूल को देखना है, अर्थात् दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित करनी है । मेरुदण्ड को सीधा रखते हुएं मन को स्थिर किया जाता है । जब यह स्थिति का लंबे समय तक साधक अभ्यास करता है, तो क्या-क्या अनुभूति होती है, उस परिणाम की विस्तृत चर्चा स्वामी जी करते हैं। जब वृत्तियों का निरोध होता है, तब साधक आगे बढ़ता है।

गर्जिया गगन...... शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्तर पर स्वतःस्फूर्त संरेखन स्थापित होता है । शील और सन्तोषपूर्वक जीवनयापन करने पर ध्यान में वह दशा आ जाती है जहाँ गगन गरजने लगता है अर्थात् तरह-तरह के नाद सुनाई देते हैं ।

जब वृत्ति एकाग्र हो जाती है, मन निर्विचार स्थिति में पहुँच जाता है, तब आकाश में - बाहर का आकाश नहीं, परंतु साधक के अंदर के चिदाकाश में - भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनि की गर्जना होने लगती है । ध्वनि सात प्रकार की होती है । उस गगन में अनेक प्रकार की ध्वनि सुनाई देती है, अनेक प्रकार के नाद की गर्जना सुनाई देती है और उस ध्वनि से, उस गर्जना से साधक को सही रास्ते पर चलने का संतोष मिलता है ।

मूलबन्ध बाँधने से मूलाधार में सोयी कुण्डलिनी शक्ति पर अपान वायु का आघात होता है । अपान वायु कुण्डलिनी को जाग्रत कर ऊर्ध्व गमन करता है, तब उसका प्राणवायु से मिलन होता है, जो मणिपुर चक्र के निकटवर्ती प्रदेश में वास करता है। वायु के उस आघात से साधक के चिदाकाश में गगन की गर्जना का आभास होता है ।

धुनी ध्यान लागा......ध्वनि का ध्यान लग जाता है । ॐकार का नाद तो सारी सृष्टि में गूँज रहा है । निरंतर गूँज रहा है । मात्र हमारे पास वह श्रवण शक्ति नहीं है । हमारे मन-मस्तिष्क में तनिक भी शांति नहीं है । यदि हमारा मन शांत हो, यदि चंचलता दूर हो, तो हमें ॐकार का नाद अपने अंदर भी सुनाई देता है । वह ध्वनि यदि पकड़ पायें, तो वह ध्वनि सर्वत्र सुनाई देती है ।

परंतु इसके लिये साथ में रामरक्षा को लेना है । यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात स्वामी जी ने कही है । साधक यदि श्रीराम जी की रक्षा माँगकर ॐकार को जाग्रत करता है, तो उसके पतन की संभावना नहीं है । परमात्मा की शरणागति स्वीकार कर साधना की जाए, तो पतन नहीं होता । परमात्मा श्रीराम स्वयं उनकी रक्षा करते हैं ।

परंतु यदि मात्र मूलबन्ध लगाया, कुण्डलिनी जाग्रत की, ॐकार को जगा भी लिया, तो वहाँ पतन की पूरी संभावना है । क्योंकि परमात्मा साधन साध्य नहीं है, पुरुषार्थ से प्राप्त होनेवाले नहीं हैं । वह तो कृपा साध्य हैं । साधन के अधीन साध्य नहीं है, परंतु साध्य की कृपा से साधन होता है । पुरुषार्थ करनेवालों पर यदि वे कृपा कर लें तभी परमात्मा की प्राप्ति होती है । परमात्मा जीव का पुरुषार्थ देखते हैं, प्रयास देखते हैं, उस पर यदि परमात्मा की करुणा हुई तो वे उसे स्वीकार करते हैं ।

मूलबन्ध लगने से अपानवायु का जो आघात होता है, जिससे भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनि उत्पन्न होती हैं । उस ध्वनि सुनने में ही साधक का ध्यान लग जाता है ।

त्रिगुण रहित......जव वृत्ति एकाग्र होती है, परमात्मा की शरणागति सच्ची होती है, तब त्रिगुणातीत अवस्था का आरंभ होता है । गुणातीत स्थिति में जीव माया से ऊपर उठ जाता है । गुण तीन प्रकार के होते हैं - सत्व, रज, तम । उन तीन गुणों द्वारा ही परमात्मा सृष्टि का संचालन करते हैं । तीनों गुण जीव को माया के बन्धन में डालते हैं । सतोगुण सहायक जरूर है, परंतु वह भी सोने की जंजीर ही है । तमोगुण जीव को आलस, प्रमाद में डालता है । रजोगुण जीव को विविध प्रवृत्तियों में डालता रहता है ।

त्रिगुण रहित, गुणों से रहित होकर, अर्थात् जहाँ गुणातीत भगवान की माया काम करती है, उस परिस्थिति में साधक पहुँच जाता है । जीव जब तीनों गुणों की माया से परे हो जाता है, मायातीत स्थिति में पहुँच जाता है,

तब जीव शील संतोष में रहना सीखता है । अंदर से शील संतोष के साथ रामरक्षा की प्रक्रिया करनी चाहिये ।

*शील संतोष में....*जब तक जीव में शील नहीं है, शालीनता नहीं है, उसके सब गुण बेकार हैं । *शील कि मिल बिन बुध सेवकाइ.....*शील गुण प्रबुद्ध जनों की सेवा करने से मिलता है । समझदार लोगों की सेवा करने से ही शील गुण मिलता है । समझदार लोगों की सेवा भी विवेक बुद्धि से करनी चाहिये । प्रबुद्ध जनों के आचरण से, उनको समझने से शालीनता का गुण स्वयं साधक में आने लगता है । श्री गुरुदेव के आचरण को समझने से और तदनुसार वाणीवर्तन और व्यवहार में लाने का प्रयत्न भी साधक में शील गुण बढ़ाने लगता है ।

शालीनता से ही भगवान श्रीराम ने परशुराम जी को शांत किया था और वे मुदित मन से श्रीराम की जय जयकार करते हुए विदा हुए थे । एक बात निश्चित है, जब तक उपास्य के गुण उपासक में न आ जाएँ, तब तक वह उपासना झूठी है । राम जी के गुण हनुमान जी में आते हैं । वे सही भक्त हैं। रावण त्रिभुवन में मात्र हनुमान जी की प्रशंसा करता है और कहता है.... ***है एक कपि महा गुण शीला....***। शील संतोष बिना सब सेवक वंचक भगत है।

जब साधक गुणातीत अवस्था में पहुँच जाता है, उस समय भी यदि वह कोई अवलंब नहीं लेता, तो उसके पतन की संभावना रहती है, अहंकार आ जाता है । उस अवस्था में भी रामरक्षा का अवलंब लेने से श्रीराम जी रक्षा करते हैं ।

परमात्मा जब देखते हैं, जीव परमात्मा को पाना चाहता है, वह प्रयास करता है, उसमें अभीप्सा है, तब प्रभु समझ जाते हैं, तब वे कृपा करते हैं, तभी जीव आगे बढ़ सकता है । तीव्र इच्छा होनी चाहिये और इच्छा को प्रगट करने के लिये प्रयास होना चाहिये, उन लक्षणों के द्वारा अंतर्यामी परमात्मा उसकी इच्छा पूरी करते हैं ।

जब कोई जंतु काँच की खिड़की से बाहर निकलने के लिये काँच से बार-बार टकराता है, तब उसके प्रयत्न देखकर किसी को करुणा आ जाए और वह खिड़की खोल दे....बस ! ऐसे ही परमात्मा जीव के प्रयास देख उसका रास्ता खोल देते हैं । खिड़की जंतु के प्रयास से नहीं खुली है, वह तो किसी की कृपा का परिणाम है, वैसे ही परमात्मा की प्राप्ति जीव के पुरुषार्थ से नहीं होती । परंतु जीव यदि प्रयास बिना बैठा रहे, तो कभी भी

परमात्मा की कृपा का अधिकारी नहीं बन सकता । कृपा के अधिकारी बनने के लिये जीव को पुरुषार्थ तो करना ही पड़ेगा ।

श्री रामरक्षा लिये प्राणी ॐकार जागा.....परमात्मा की शरणागति के बिना किया गया साधन मात्र परिश्रम बनता है । इसलिये स्वामी जी श्री रामरक्षा को लेकर साधना पथ पर बढ़ने का आग्रह बार-बार कर रहे हैं ।

जीव जागा हुआ कब माना जाता है, जब उसे विषयों के विलास से वैराग्य हो जाय । नेत्र का विषय है नये-नये रूप देखना, जिह्वा का विषय है वाणी-विलास करना, रसना का विषय स्वाद और भाँति-भाँति के रसास्वादन करना। यह तो अनेक जन्म से हम करते आये हैं, परंतु जब सभी इन्द्रियाँ अपना-अपना विलास छोड़ दें...स्व में स्थित हो जाएँ, तभी प्राणी जागा हुआ माना जाता है ।

अर्थात् जब ॐकार जाग जाता है, तब जीव भी जाग्रत अवस्था में आ जाता है । अभी तक जीव सो रहा था - ***मोह निसा सब सोवनिहारा, देखहि स्वप्न अनेक प्रकारा*** । हरेक व्यक्ति सोया हुआ है, और सृष्टि में जो नाना प्रकार के दृश्य दिखाई देते हैं, वह सब स्वप्नवत हैं । सामान्यतः जब जीव सुषुप्ति में होता है तब स्वप्न की दुनिया ही उसे वास्तविक लगती है, परंतु जब वह जागता है , तब पता चलता है कि सृष्टि एक स्वप्न ही है ।

भगवान शंकर स्वमुख से कहते हैं - ***उमा कहउ मैं अनुभव अपना, सत हरि भजन जगत सब सपना*** जब वास्तविक भजन होता है, तभी जगत स्वप्न जैसा लगता है और तभी जीव जागा हुआ माना जाता है । भजन भव को भंजन करता है, अज्ञान जनित संसार को नष्ट करता है । ॐकार के जाग्रत होने पर जीव मोहरूपी रात्रि से जाग जाता है ।

ॐकार एक विशेष प्रकार की ध्वनि है। वह ध्वनि जाग्रत होती है। जब ॐकार की ध्वनि प्रगट होती है, तब साधक को प्रत्येक ध्वनि में ॐकार सुनाई देता है । वैसे भी सब ध्वनि के पीछे ॐकार का नाद छिपा हुआ रहता है ; उस ध्वनि को पकड़ लिया जाता है ।

साधक के अंतःकरण में ॐकार का नाद स्वतः गूँजने लगता है । कुण्डलिनी जब जाग्रत होकर हृदय स्थान में पहुँचती है तो अनाहत ध्वनि करने लगती है । उसके साथ बुद्धि की चेतना उपस्थित रहती है । इसी कारण बुद्धि को वह मधुर ध्वनि श्रुतिगोचर होती है । वह ध्वनि ऐसी सुनाई देती है, मानो घोषाकार कुण्ड में ध्वनि चिह्न के आकार एवं ॐकार के रूप में लिखे गये हों ।

पञ्चतत्त्व पञ्चभूत पच्चीस प्रकृति
पञ्चभूतात्मा पञ्चबाई समदृष्टि समस्वर आई ।

यहाँ स्वामी जी सांख्य दर्शन लाते हैं । सांख्य दर्शन द्वैतवादी है । उसमें पुरुष और प्रकृति मूलभूत और अनादि तत्त्व माने गये हैं । उनके संयोग से ही यह समग्र जगत की उत्पत्ति हुइ है । पुरुष चेतन है, प्रकृति जड़ है । पुरुष विषयी है, प्रकृति विषय है । पुरुष गुणातीत है, प्रकृति त्रिगुणात्मिका है । पुरुष निष्क्रिय होने पर भी जड़ प्रकृति उसके संयोग से चेतन बनती है । पुरुष और प्रकृति का संबंध रहस्यपूर्ण है । पुरुष श्रीराम जी हैं । वह देश कालातीत, ज्ञानस्वरूप, जगत से परे, तटस्थ कूटस्थ परमात्मा हैं और आदिशक्ति जगदम्बा पराम्बा श्रीसीता जी प्रकृति हैं, जो श्रीराम जी की अर्द्धांगिनी और चेतन शक्ति का आदि कारण हैं ।

पुरुष और प्रकृति के संयोग से आरंभ कर दृश्यमान पंचभूतात्मक समस्त जगत की उत्पत्ति तक की समग्र सृष्टि प्रक्रिया को सर्ग कहते हैं । प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, व्यक्त और अव्यक्त, दोनों अवस्थाओं में सत्व, राजस और तमोगुण, तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं ।

परंतु पुरुष के संयोग से प्रकृति में गुणक्षोभ होता है, गुण विषम अवस्था को प्राप्त करते हैं, जिससे सर्ग की प्रक्रिया आरंभ होती है और सृष्टि उत्पन्न होती है । सर्ग का क्रम अधिक चेतन से कम चेतन की ओर बढ़ते हुए पंच महाभूत तक पहुँचता है । **चेतन से लेकर जड़ तक की प्रक्रिया को सर्ग कहते हैं।**

पाँच तत्त्व अर्थात् शरीर में पंच महाभूतों की जो तन्मात्राएँ सूक्ष्म रूप से हैं, वे तन्मात्रा-आकाश के रूप में शब्द, - शब्द तन्मात्रा से आकाश और शब्द गुण की उत्पत्ति होती है । आकाश का गुण शब्द है, जिसे कान द्वारा सुना जा सकता है । स्पर्श और शब्द तन्मात्रा के योग से वायु की उत्पत्ति होती है, जिस के शब्द और स्पर्श, दो गुण है । रूप तन्मात्रा तथा वायु तन्मात्रा अर्थात् शब्द स्पर्श के योग से अग्नि या तेज की उत्पत्ति होती है । अग्नि के गुण शब्द, स्पर्श और रूप हैं । रस तन्मात्रा तथा अग्नि तन्मात्रा अर्थात् शब्द, स्पर्श के योग से जल तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। जल के गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस हैं । गंध तन्मात्रा और जल तन्मात्रा के योग से पृथ्वी तन्मात्रा उत्पन्न होती है, जिसके गुण, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं ।

उपर्युक्त क्रम से प्रत्येक परवर्ती में पूर्ववर्ती के गुण समाहित हो जाते है। क्योंकि उत्पत्ति की प्रक्रिया में हरेक तत्त्व पूर्ववर्ती तत्त्व का समावेश करते हुए आगे बढ़ते हैं । परंतु प्रत्येक महाभूतों का अपना विशेष गुण है।

पंच महाभूत अर्थात् प्रकृति के जो पाँच तत्त्व विराट रूप में विद्यमान हैं - आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। आकाश का गुण है शब्द, वायु का गुण है स्पर्श, तेज (अग्नि) का गुण है रूप, जल का गुण है रस और पृथ्वी का गुण है गंध । प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन यह गुण संक्षोभ से आरम्भ होकर पंचमहाभूतों की उत्पत्ति तक पहुँचे हुए सर्ग को सांख्य योग में पचीस तत्त्वों द्वारा दर्शाया जाता है ।

पच्चीस प्रकृति को सांख्य योग में इस प्रकार वर्णन किया है –

	(१)पुरुष-परमात्मा	(२) प्रकृति	(३) महत्	(४) अहंकार	(५) मन
पंच तन्मात्राएँ	(६) शब्द	(७) स्पर्श	(८) रूप	(९) रस	(१०) गंध
पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ	(११) कर्ण	(१२) त्वचा	(१३) चक्षु	(१४) रसना	(१५) घ्राण
पाँच कर्मेन्द्रियाँ	(१६) मुख	(१७) हाथ	(१८) पग	(१९) मलद्वार	(२०) जननेन्द्रिय
पंचभूत-	(२१) आकाश	(२२) वायु	(२३)अग्नि	(२४) जल	(२५) पृथ्वी

इनमें पहला पुरुष है, और बाकी चौबीस तत्त्व प्रकृति के हैं। पुरुष निराकार तत्त्व है । प्रकृति मूल प्रकृति है, जिस में तनिक मात्र विकृति नहीं है । महत्, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राएँ तात्त्विक रूप से प्रकृति के हैं, जिनमें कुछ-कुछ विकृति भी हुई है । पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पंच महाभूत और मन यह सोलह तत्त्व मात्र और मात्र विकृति हैं ।

महत् तत्त्व से ले कर १८ तत्त्व अर्थात् महत्, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, और पाँच तन्मात्रा मिलकर पिंड शरीर अथवा लिंग शरीर बनता है । इसके साथ बुद्धि के संस्कार जुड़ जाते हैं । उसे जीवात्मा अथवा सूक्ष्म शरीर बनता है । परंतु मात्र लिंग शरीर भोगों को भोग नहीं सकता, इसलिये पिंड शरीर पंच महाभूतों का सहारा ले कर भौतिक शरीर बनाता है । यह लिंग शरीर भिन्न-भिन्न देह धारण करता है ।

पंचभूतात्मा अर्थात् पाँच तन्मात्राएं जिसे ज्ञानेन्द्रिय द्वारा मानव अनुभव करता है । वे पाँचों तन्मात्रा की ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। शब्द के लिये कर्ण,

स्पर्श के लिये त्वचा, रूप के लिये नेत्र, रस के लिये रसना और गंध के लिये घ्राण ।

पंचबाई ..... भूत पाँच चक्र - मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत और विशुद्ध हैं।

पाँच वायु .... अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान । ध्यान करने से जब प्रकृति के प्रत्येक तत्त्वों में समत्व आ जाता है, तब जीवात्मा की दृष्टि भी समत्व प्राप्त कर लेती है ।

समदृष्टि .... कुण्डलिनी जब जाग्रत होती है, तब साधक में सद्गुणों का विकास होता जाता है । सुषुम्ना में जैसे-जैसे दुर्गुण रूपी अवरोध दूर होते हैं, जैसे-जैसे भिन्न-भिन्न चक्रों का भेदन होता है, वैसे-वैसे मन की ग्रंथियों का नाश होकर मन की संकीर्णता भी दूर होती जाती है, और सर्ग की प्रक्रिया को देह में विपरीत होने लगती है अर्थात् अल्प चेतन मन अपनी जड़ता को धीरे-धीरे दूर करता जाता है और परम चेतन में व्याप्त होता है।

तब साधक प्राणिमात्र में परमात्मा को देखता है, तब उसमें समदृष्टि आती है। प्रत्येक जीव परमात्मा का ही अंश है, परंतु पात्र-भेद और कर्म-भेद से व्यवहार में भिन्नता देखने को मिलती है। व्यवहार में दुष्ट और सज्जन के प्रति जब सम दृष्टि आ जाए, तब उसकी साधना सही मार्ग पर है, ऐसा माना जाता है ।

पंडिता समदर्शीना.... पंडित समदर्शी होते हैं, समवर्ती नहीं। जिस प्रकार शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में हमारी सम दृष्टि है, परंतु सब का अपना-अपना भिन्न-भिन्न कार्य है । हाथ का काम हाथ ही करेगा, पैर का काम पैर ही कर सकते हैं । हाथ का काम पैर से नहीं चल सकता । भोजन मुख के द्वारा ही होता है, उसे नाक से या कान से नहीं किया जा सकता । इस प्रकार व्यवहार में भिन्नता को देखते हुए भी विवेकसहित तत्त्वत: एक ही तत्त्व का सर्वत्र दर्शन करना है ।

आपो नारायण.....जल नारायण का स्वरूप है, परंतु एक गंगा जी का जल है और दूसरा गंदे नाले का जल है । दोनों में समदृष्टि होनी चाहिये, दोनों नारायण का स्वरूप हैं, परंतु समवर्तन नहीं हो सकता । गंदे जल से न तो स्नान होगा, न ही उसे ग्रहण किया जा सकता है । नारायण नारायण में भी भेद है । यह तत्त्व बहुत गहराई से समझना चाहिये । एक उदाहरण देखते हैं -

एकबार एक महात्मा ने अपने शिष्य से कहा, " बेटा । सब में नारायण को देखो । नारायण के सिवाय और कोई सत्ता है ही नहीं । "

शिष्य ने रट लिया । एक दिन शिष्य कहीं जा रहा था। रास्ते में सामने से एक पागल हाथी चला आ रहा था । ऊपर महावत बैठा हुआ था । उसने कहा,

" ब्रह्मचारी ! संभल जाओ ! हाथी पागल है । हट जाओ । "

परंतु उस समय शिष्य को गुरु की सीख याद आ गयी । सोचा, हाथी में भी नारायण है, मुझ में भी नारायण है । तो नारायण नारायण का क्या बिगाड़ सकता है । उसने महावत की बात अनसुनी कर दी । हाथी ने ब्रह्मचारी को सूँड़ से उठाकर पटक दिया । ब्रह्मचारी को बहुत चोट आयी । वह जैसे-तैसे आश्रम पहुँचा । गुरुदेव ने पूछा, " बेटे ! यह हालत कैसे हो गयी ? "

शिष्य ने कहा," गुरुदेव ! यह सब आपके उपदेश का परिणाम है। "

" मेरा उपदेश ? " गुरुदेव को आश्चर्य हुआ ।

" जी, गुरुदेव ! आपने कहा था, सब में नारायण देखो । रास्ते पर एक पागल हाथी जा रहा था । महावत ने तो कहा, हाथी पागल है । परंतु मैंने सोचा, उसमें भी नारायण है, मुझ में भी नारायण है। तो नारायण को नारायण से क्यों तकलीफ होगी? देखो हाथी ने मेरी यह हालत कर दी । "

" बच्चा ! तूने उपदेश का पालन तो किया, लेकिन आधा ही किया । स्वाभाविक ही तेरी यह हालत होगी । उससे मुझे आश्चर्य नहीं है । " गुरुदेव ने कहा ।

" वह कैसे गुरुदेव ? " अब शिष्य को आश्चर्य हुआ ।

" तूने हाथी में तो नारायण को देखा, परंतु उस महावत में क्यों नहीं देखा, जो तुझे सावधान कर रहा था ? उसकी बात यदि मानता तो तेरी यह हालत कैसे होती ? तुम ने महावत नारायण की बात नहीं मानी, तो हाथी नारायण ने तुम्हारे नारायण को उठाकर फेंक दिया । "

इसी प्रकार हम सब आधी-आधी सीख ही मानते हैं । सज्जन मिले, उस में नारायण को देखते हैं, परंतु दुर्जन में नारायण नहीं देख सकते । दोनों में समदृष्टि आ जानी चाहिये । सब के प्रति वर्तन समान नहीं हो सकता, परंतु समदृष्टि तो अवश्य होनी चाहिये । अंदर से समझ होनी चाहिये कि सब खेल परमात्मा का हो रहा है ।

समस्वर....अर्थात् चंद्र और सूर्य नाड़ी में जो स्वर चलता है, बारी-बारी से बायीं और दाहिनी नाड़ी चलती है, वह सम हो जाए अर्थात् प्राण दोनों नाड़ियों से नहीं अपितु सुषुम्णा में निवास करे । सम स्वर हो जाए । उस समय ध्यान की श्रेष्ठ स्थिति होती है । ॐकार के जागने के बाद यह स्थिति अपने-आप आती है, कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, परंतु साथ-साथ रामरक्षा होनी चाहिये । रामरक्षा से जब ॐकार जागता है, तब पंचभूत, पंचतत्त्व व पचीस प्रकृति में समदृष्टि आ जाती है और समस्वर जीव हो जाता है ।

सिद्धांत पटल में स्वामी जी ने कहा है - ***पद्म कर आसन चित्त कर थीर, योगी मनमें धर ले धीर, नित उठ बालक होइ शरीर ।*** योगी को पद्मासन में बैठ कर चित्त वृत्तियों को स्थिर करना चाहिये । साधना में, मन में धैर्य रखना अति आवश्यक है । धर्म का मार्ग धैर्यवालों को ही फलता है । धर्म का रथ शौर्य और धैर्य के पहियों पर चलता है। ***सोरज धीरज तेहि रथ चाका ।***

स्वर सम होने से प्राण ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है और सुषुम्ना में बहता हुआ ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाता है । ब्रह्म अग्नि वहाँ प्रगट होती है, जिस से योगी का देह दिव्य बन जाता है । उसको न जरा अथवा वृद्धावस्था आती है, न ही कोई व्याधि या दुःख आते हैं, वे ब्रह्म अग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं।

प्राण अपान उदान व्यान समान मिलि,
अनहद शब्द की खबर पाई ।

प्राण अपान उदान व्यान समान......शरीर में पंच वायु विद्यमान हैं । हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभिमंडल में समान, **कण्ठदेश** में उदान और **सारे शरीर** में व्यान व्याप्त है । उसके साथ पंच उपप्राण भी हैं, जिसे **नागवायु**, जो डकार कराता है, **कूर्मवायु**, जो उन्मिलन-नेत्रों का खोल बन्द करना कराता है, **कृकल**, जो जम्हाई कराता है, **देवदत्त** वायु क्षुधा-पिपासा का भान कराता है और **धनंजय** हिचकी का काम करता है । ये सभी मुख्य और उप वायु को प्राणायाम साध कर साधक समान करता है, तब शरीर की नाड़ियों की शुद्धि हो जाती है ।

अनहद शब्द...प्राण जब महाप्राण में मिलता है तब अनाहत ध्वनि की समझ आती है । उसी को ॐकार, ररंकार या अनाहत ध्वनि कहा जाता

है । नाड़ी शुद्ध होने पर योगी को स्वतः अनाहत नाद की ध्वनि गुंजारित होती सुनाई देती है, अर्थात् ॐकार की ध्वनि हृदयाकाश में उत्पन्न होने लगती है। अनहत शब्द को अजपा जाप भी कह सकते हैं। उस साधक की बुद्धि अगाध हो जाती है । जो श्वास और उच्छवास को बराबर जान लेता है, वह उस के भले-बुरे फल को भी समझ लेता है।

उस स्थिति में पंचवायु प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान सब मिलकर अनहद शब्द की खबर देते हैं । अनहद अर्थात् जो सीमाओं से परे है, हद से बाहर है । जितने भी शब्द हैं, वे सब सीमा में आबद्ध हैं । उन शब्दों की कंपन तरंगें कितनी दूरी तक पहुँचेंगी, उसकी निश्चित सीमा होती है । शब्द अक्षर है, उनका क्षरण नहीं होता । नाश नहीं होता । परंतु तरंगों की कुछ सीमा होती है । जो सीमाओं से रहित शब्द है, उसकी खबर मिलती है । यह शब्द परमात्मा का विशिष्ट नाद है ।

नाभि से निकलनेवाली जितनी नाड़ियाँ हैं, उसमें वायु का संचरण होता है । भिन्न-भिन्न वायु सुषुम्ना में जाकर संकुचन और विकिरण द्वारा सुषुम्ना के मार्ग में अवस्थित भिन्न-भिन्न चक्रों पर असर करती हैं । वहाँ विशेष प्रकार के शब्द उत्पन्न होते हैं । वे शब्द उन चक्रों के बीजाक्षर हैं । सब चक्रों का छेदन-भेदन करने के बाद वायु जब सहस्रार में पहुँचता है, तब वहाँ जो नाद होता है, वही नित्य नाद है, वही ॐकार है ।

ज्ञानपूर्वक साधना करने से और समदृष्टि आने से साधक को फिर सृष्टि में कोई विसंगतता दृष्टिगोचर होती ही नहीं है, इसलिये मन की शान्ति स्वतः बनी रहती है और हृदयाकाश में निरंतर ॐकार का अनाहत नाद गूँजता रहता है । योग की इस प्रक्रिया से योगी शरीर और प्राण को पृथक् करनेवाली मृत्यु पर विजय प्राप्त करके ब्रह्मांड में विचरण करते हैं ।

उलटिया सूर, गगन भेदिया,
नवग्रह डंक छेदन किया
पेखिया चन्द्र जहाँ कला सारी ।

अनाहत नाद की खबर पाने के बाद अर्थात् ॐकार की ध्वनि सुनने के बाद नाद की उत्पत्ति के साथ स्वर का ज्ञान होता है । स्वर अथवा सूर श्वास की दिशा को कहते हैं । नासिका के दो रंध्रों से, या दो नलिका से अथवा नाड़ी से श्वास अथवा प्राण का वहन होता है । दाहिनी नाड़ी को इड़ा, गंगा अथवा सूर्य नाड़ी कहते हैं और बाँयी नाड़ी को पिंगला, यमुना अथवा

चंद्र नाड़ी कहते हैं । विराट विश्व का ही एक अंश मानव देह है । *या पिंडे सा ब्रह्मांडे*..... विश्व के सूर्य और चंद्र अपना प्रभाव देह पर भी बताते हैं, क्योंकि देह में भी सूर्य और चंद्र कार्यरत हैं ।

प्रकृति ने मानव को साधारण रूप से श्वास लेने के लिये दो नासिकारंध्र दिये हैं, जो दो सूक्ष्म नाड़ियों का प्रतिनिधित्व करते हैं । दाहिने स्वर को पिंगला और बाँये को इड़ा नाड़ी कहते हैं । स्वर जब बदलता है, उसके अंतराल में सम स्वर होता है, तब सुषुम्ना में प्राण होते हैं । सुषुम्ना बहुत संवेदनशील नाड़ी है । उसमें भिन्न-भिन्न चक्र हैं । चक्रों में वायु विशेष रूप से कार्यशील होती है और वहाँ चक्रों में शुद्धि के लिये छेदन-भेदन करती है ।

जब श्वास दाहिनी नाड़ी से बहता है, अर्थात् सूर्य नाड़ी चलती है, तब वह शरीर का तापमान बढ़ाता है और सांसारिकता, जड़ता भी बढ़ाती है । जब बाँया स्वर चलता है, तो वह शरीर का तापमान कम करता है, और वह चेतन को प्राधान्य देता है । दोनों नाड़ी के मध्य में तीसरी सुषुम्ना नाड़ी बहती है, जो जीव को आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर करती है । नासिका के आगे हाथ रखकर कौन-सी नाड़ी चल रही है, वह जाना जा सकता है । योगी इड़ा, पिंगला से प्राण को खींचकर सुषुम्ना में प्रवेश कराना चाहता है ।

उलटिया सूर.... स्वर को उलटा दिया, बदल दिया । यदि श्वास चंद्र नाड़ी से चलती है, तो उलट कर सूर्य नाड़ी से चलायी और सूर्य नाड़ी से चलती श्वास को चंद्र नाड़ी से चलायी। स्वर-सुर बदलने के लिये विविध क्रियाएँ होती हैं । कोई-कोई सुर को ऐसे ही बदल देते हैं, कोई जीभ को उलटा कर तलुए में लगाकर सुर को उलटा करते हैं, कोई जीभ का भेदन करते हैं, कोई नीचे तकिया रखकर करवट से सोने पर स्वर बदल लेते हैं, योगी मात्र ध्यान के द्वारा स्वर को बदल देते हैं ।

सुर को उलटा करने से योगी जल्दी सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है । स्वर उलटाने से शरीर भी स्वस्थ रहता है । योगी स्वर पर नियंत्रण पा लेता है । स्वर उसके अधीन हो जाता है ।

योगी सम स्वर में सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर के चितिशक्ति के द्वारा, कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा भिन्न-भिन्न चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार तक पहुँचता है। स्वर में पाँचों तत्त्व में कौन-सा तत्त्व सक्रिय है, उसे योगी जान लेता है । श्वास कितनी दूर तक जाती है, उसका रंग कैसा है, उस को देख

उसे पता चल जाता है । शरीर को जैसी आवश्यकता है, उस प्रकार का स्वर बदल कर उस प्रकार के तत्त्व को वह ग्रहण कर सकता है ।

स्वामीजी के मत से कुण्डलिनी जाग्रत करने के लिये सर्वश्रेष्ठ उपाय तो भगवत् कृपा ही है। ईश्वरप्रणिधान सर्वसाधनों में श्रेष्ठ और अन्य साधनों का आधार है । वह मूसलाधार वर्षा की झड़ी है, जब कि अन्य साधन कुएँ के जल के समान हैं । भक्तिमार्ग के साधक की कुण्डलिनी भाव और नाम जप से जाग्रत हो जाती है । ज्ञानमार्ग के प्रवासी की कुण्डलिनी ब्रह्मचिंतन और विचार से जाग्रत होती है । राजयोग के साधक धारणा और ध्यान से कुण्डलिनी जाग्रत करते हैं । हठयोग के साधक की कुण्डलिनी आसन, प्राणायाम और मुद्राओं के अभ्यास से जाग्रत होती है ।

स्वर विज्ञान एक बृहद् विज्ञान है । जब श्वास लिया जाता है, तब स्वर-श्वास की भी गति होती है अर्थात् स्वर लंबा-छोटा भी होता है । उस स्वर को नापने से तत्त्व को जाना जा सकता है । मन को स्थिर करते हुए स्वर और उसकी गति को नासिका के आगे अँगुली रखकर नापा जा सकता है । त्रिगुणात्मक प्रकृति देह में भी कार्यशील है ।

अग्नि तत्त्व की लंबाई सब से कम है । उसका रंग लाल है और लंबाई नासिका से चार अँगुल होती है । वायु तत्त्व का रंग हरा है, उसकी लंबाई आठ अँगुल जितनी होती है । पृथ्वी तत्त्व का रंग पीला है, और लंबाई बारह अँगुल है । जल तत्त्व का रंग सफेद है, और वह सोलह अँगुल लंबाईवाला होता है । आकाश तत्त्व आकाशी रंग का है जिसकी लंबाई सोलह अँगुली से अधिक होती है । ये पाँच तत्त्व बारी-बारी से एक-एक घड़ी चलते हैं । प्रत्येक तत्त्व अपने-अपने गुण और उसका असर छोड़ जाते हैं । सृष्टि में जिस प्रकार ईश्वरी शक्ति कार्य करती है, उसी प्रकार देह में स्वर या प्राण शक्ति कार्य करती है ।

इसलिये योगी अपना सुर अथवा स्वर उलटा करता है । इस विपरीतीकरण की क्रिया से योगी का प्राण सुषुम्ना में बहने लगता है और वह समस्वरवाला हो जाता है । जब समस्वर होता है, सुषुम्ना में प्राण बहता है, तब अनेक नादों के साथ गगनभेदी नाद उसे सुनाई देता है ।

गगन भेदिया....आकाश का भेदन करके पंच महाभूत महाकाश या चिदाकाश में प्रवेश करता है । चिदाकाश अर्थात् चिन्मय आकाश – *त्रिपादस्य मृतम् दिवि* – भगवान के तीन पाद में अमृतलोक है । एक पाद में जितना भी

परिवर्तनशील जगत है, जिसमें अंतरिक्ष में दिखाई देनेवाले सब ग्रह, तारे, नीहारिका आदि समाविष्ट हो जाते हैं। उन तीन पाद में चिन्मय आकाश है। परिवर्तनशील जगत के साथ जितने भी क्षर और अक्षर हैं, परा और अपरा हैं, उसके साथ परमात्मा है । परंतु शुद्ध चिदाकाश में केवल परिपूर्णतम ब्रह्म ही है। उस चिदाकाश को भेदन कर योगी उस में प्रवेश करता है ।

नवग्रह डंक छेदन किया – श्वास का समस्वर होना योगी को चंद्र और सूर्य के साथ नवग्रह के अच्छे-बुरे प्रभावों से बचाता है । ब्रह्मांड की तरह शरीर में भी नवग्रह विद्यमान हैं । स्वर उलटा करने से – स्वरोदयशास्त्र कहता है कि सूर्य, चंद्र के सिवाय सात चक्र शरीर में सात ग्रहों की उपस्थिति बताते हैं । सुर को उलटा करने से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है, जिससे शरीर में अवस्थित सातों चक्रों का भेदन करते हुए प्राण शक्ति सहस्रार में पहुँच जाती है ।

उन चक्रों की सुषुप्तावस्था में अनजाने में ही व्यक्ति अनाचार, दुराचार, पापाचार करके अपने ही कर्मों का फल भोगकर दु:खी होता है । परंतु चक्र का भेदन होते समय साधक का मानसिक परिवर्तन होता है, और वह सद्‌गुणोंवाला हो जाता है । इस प्रकार बुरे कर्म न करके उसके फल भोगने से बच जाता है । ग्रहों का जो डंक अथवा घात होता है, उससे योगी बच जाता है । तदनंतर चंद्र को अपनी सारी कलाओं के साथ वह देख सकता है ।

नवग्रहों के द्वारा हमारे शरीर पर भिन्न-भिन्न प्रकार का असर होता है । भारतीय संस्कृति में जन्माक्षरों का महत्त्व है । जन्माक्षरों में भिन्न-भिन्न राशि के साथ नवग्रहों के स्थान हैं । कुछ पाप ग्रह हैं, कुछ सौम्य ग्रह हैं, कुछ शुभ ग्रह हैं । ये ग्रह भिन्न-भिन्न स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालते हैं । कहीं शुभ ग्रह अशुभ परिणाम देता है, तो कहीं अशुभ ग्रह शुभ परिणाम देते हैं । तिथि, वार, योग के अनुसार उनका असर बदलता रहता है । किस की दशा चल रही है, किस की महादशा चल रही है, किस की अंतर्दशा चल रही है, यह पंचांग के द्वारा शरीर पर असर जाना जा सकता है । इसलिये कभी बैठे-बैठे मन उदास हो जाता है, कभी अकारण ही प्रसन्न हो जाता है । ग्रहों का कुप्रभाव बिच्छू की तरह डंक मारता है, उससे योगी बच जाता है ।

वास्तव में प्रारब्ध भोग तो किसी भी तरह भुगतना ही पड़ता है । परंतु योगी स्थूल शरीर से ऊपर उठ के सूक्ष्म शरीर में स्थित हो जाता है ।

सूक्ष्म शरीर में कुप्रभाव का असर नहीं होता । सूक्ष्म शरीर पर योगी का नियंत्रण होता है ।

योगी का सूक्ष्म शरीर आनेवाली घटनाओं को पहले ही पकड़ लेता है । स्वप्न में भविष्य की घटना पहले ही पता चलती है । भगवान कृष्ण ने अर्जुन को पहले ही भीष्म, द्रोण आदि को मरे हुए दिखा दिया था । स्थूल रूप में घटना घटने से पहले ही सूक्ष्म जगत में घटनाएँ घटित होती हैं, जिसे योगी देख सकता है । इसलिये योगी त्रिकालज्ञ हो जाते हैं । भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों को वह देख सकता है । स्वामी जी यहाँ इतना ही कहते हैं कि नवग्रह के कुप्रभाव से साधक बच जाता है ।

मानव देह में, रोम-रोम में जो सत्ता व्याप्त है, वही सत्ता और वही तेज अखिल ब्रह्मांड में विद्यमान होने की अनुभूति होती है । योगी की चंद्र नाड़ी योग साधना में सहायक होती है । सूर्य नाड़ी के चलते शरीर में चर अथवा चित्त में चलायमानता का गुण आता है, परंतु चंद्र नाड़ी स्थिरता देती है । सभी ग्रहों में पृथ्वी से सबसे निकट का ग्रह चंद्र है । उसका असर स्वरोदय का साधक जान सकता है ।

पेखिया चंद्र जहाँ कला सारी...उस स्थिति में योगी शीतल चंद्रमा का दर्शन करता है, जो संपूर्ण कलाओं से परिपूर्ण है । योगी चंद्रलोक में प्रवेश करता है । शरीर में और ब्रह्मांड में बहुत साम्यता है । *यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे*...योगी पिंड के चंद्रमा में प्रवेश करता है ।

योगियों की परिभाषा में सूर्य का स्थान नाभिप्रदेश और चंद्र का स्थान मस्तिष्क में है । सामान्य अवस्था में मस्तिष्क में स्थित चंद्र से सतत स्रावित होनेवाले अमृत को नाभि का सूर्य ग्रस लेता है । परंतु योगी उस चंद्र की सारी कलाओं को देखते हुए उस प्रक्रिया को उलटी कर देते हैं और वहाँ का अमृत व्यर्थ नहीं जाने देते । चंद्र की सारी कलाओं को देख समझकर उसका लाभ योगी उठा सकता है ।

ब्रह्म अग्नि प्रगट भई जरा व्याधि जली ।
डाकिनी साकिनी घेर मारी ।

ब्रह्म अग्नि निर्धूम ज्योति है । संसार की जितनी भी ज्योति हैं वे सब धूम्र देनेवाली हैं, उसमें ईन्धन जलता है । परंतु योगी में जब ब्रह्म अग्नि, ब्रह्म ज्योति, आत्म ज्योति प्रगट होती है, वह निर्धूम होती है ।

मूलाधार चक्र में चतुर्दल कमल की भावना की गयी है । उस कमल की कर्णिका में अत्यंत अद्‌भुत सुंदर त्रिकोण है । इस त्रिकोण के ऊर्ध्व कोश में अनार के पुष्प के सदृश एक लिंग की आकृति बतायी जाती है । इस स्वयंभूलिंग के साथ दस इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और पाँच प्राण संयुक्त हैं । जिसका निर्माण शुद्ध पंचभूतों से हुआ है । वास्तव में इसे ही लिंग-देह कहा जाता है, जो वासनाओं को लेकर भिन्न-भिन्न शरीर धारण करता है। उस लिंग-देह में निर्धूम ज्योति प्रगट होती है जिससे उसकी वासनाएँ भस्मीभूत हो जाती हैं ।

वहाँ ब्रह्म अग्नि प्रगट होती है । ब्रह्माग्नि अर्थात् वह अग्नि है जो हमारे पापों को खत्म करती है । सामान्य अग्नि ताप देती है, परंतु ब्रह्माग्नि सब पाप-ताप को जलाकर भस्म कर देती है और हमें शीतलता प्रदान करती है । योगी शुभ और अशुभ, दोनों से ऊपर उठता है । ब्रह्माग्नि, योगाग्नि आदि भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रगट होती हैं, और भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करती हैं । क्योंकि जिस प्रकार की भावना को लेकर अग्नि तत्त्व का चिंतन करते हुए आवाहन किया जाता है, उसी प्रकार का कार्य वह अग्नि देती है ।

वह निर्धूम अग्नि है । ब्रह्माग्नि अलौकिक अग्नि है, जिस को भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है - वहाँ सूर्य या चंद्र का प्रकाश नहीं है परंतु संपूर्ण आलोकित धाम है । इस प्रकार शुद्ध चिदाकाश में, परमात्मा के दिव्य धाम में ब्रह्माग्नि प्रगट होती है, जो दिव्य शीतल और मधुर है ।

जरा व्याधि जली*......**दिव्य अग्नि प्रगट होने से जीव की जरा व्याधि जल जाती है । जीव आधि और व्याधि अर्थात् आधिभौतिक कष्ट और मानसिक कष्ट, दोनों से ऊपर उठ जाता है । उसके साथ-साथ जरा-वृद्धावस्था, शरीर की अवस्था का जो परिवर्तन होता है – वह भी मिट जाता है । योगी कालातीत स्थिति में पहुँच जाता है और उसकी आयु बदलती नहीं है । स्वामी जी की उक्ति को पुनः दोहराते हैं ***...पद्म कर आसन, चित्त कर थिर । योगी मन में धर ले धीर । नित उठ बालक होई शरीर ।। योगी नित्य बालक समान रहता है अर्थात् काल की असर उस पर नहीं होती ।

उससे जरा व्याधि जल जाती है । वृद्धावस्था रूपी अवस्थाओं का परिवर्तन योगी को नहीं होता । आयु के द्वारा शरीर में जो अशक्ति आती है, शरीर में जर्जरता आती है, वह नहीं होती । व्याधि अर्थात् भाँति-भाँति की

चिंताओं से भी मुक्ति हो जाती है क्योंकि सृष्टि का रहस्य उसे ज्ञात है. भूत-भविष्य भी उसे ज्ञात हो जाता है ।

डाकिनी साकिनी घेर मारी – अंतरिक्ष में विचरण करनेवाली बुरी शक्तियाँ - जिसे हम डाकिनी-शाकिनी के नाम से जानते हैं, वे भी स्वयं मर जाती हैं । समाज में न दिखाई देनेवाली कुछ अतृप्त आत्माएँ होती हैं, जो छद्मवेश लेकर समाज में उपद्रव करती हैं, उसका उपद्रव योगी को नहीं होता । अतृप्त प्रेतात्माएँ सूक्ष्म देह से विचरण करती हैं, जिनके देह में पृथ्वी और जल तत्त्व नहीं होता । मात्र वायु, अग्नि और आकाश की प्रधानता होती है । छद्म वेश में वे कहीं भी किसी के भी शरीर में प्रवेश कर लेते हैं । अपनी अतृप्ति के कारण कभी-कभी जीव को हानि भी पहुँचाती हैं ।

वायुमंडल में न दिखाई देनेवाले अनेक भ्रमित जीवात्माएँ हैं, जो किसी कारणवश अंतरिक्ष में भटक रहे हैं । आकस्मिक मृत्यु या अन्य कोई कारणवश उनका भविष्य निर्धारित नहीं हो सका है, क्योंकि उनकी अंतिम वासना का पता नहीं चल पाया है । जिनकी वासना का पता चल जाता है, उनको तो उनके अनुरूप योनि में जन्म मिल जाता है । परंतु जब तक निर्णय नहीं होता है, तब तक अनिर्णीत अवस्था में वैसी अतृप्त आत्माएँ - ***चारिणश्चछद्म चारण:*** – भटकती हैं ।

वैसे तो मृतक का निर्णय बहुत शीघ्रता से हो जाता है । परंतु पृथ्वी और ब्रह्मलोक के समय में बहुत अंतराल पड़ जाता है । पृथ्वी का एक वर्ष देवताओं का एक दिन और रात है । जब सूर्य उत्तरायण होता है वह उनका दिन है और दक्षिणायण होता है तब वहाँ रात्रि होती है; पितृलोक में पंद्रह दिन का समय होता है। शुक्ल पक्ष वहाँ का दिन है और कृष्ण पक्ष वहाँ की रात्रि है । इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोक-लोकांतरों का समय भिन्न-भिन्न होता है ।

योगी उनकी असरों से परे हो जाता है । उन अमंगल शक्ति को योगी घेर कर मार देता है अर्थात् उसकी असरों से परे हो जाता है । परम योगी तो प्रेतात्मा में भी परमात्मा को ही देखता है क्योंकि उसके लिये परमात्मा के अतिरिक्त कोई सत्ता भी नहीं है, कोई स्थान भी नहीं है, और कोई अस्तित्व भी नहीं है। उसके सामने जब प्रेतात्मा आ जाती है, तब वह सोचता है कि परमात्मा यह कैसा रूप लेकर आये हैं । ठाकुर जी आज विचित्र रूप में दर्शन दे रहे हैं । योगी को उससे कोई भय नहीं होता।

और जिस महापुरुष के लिये भेद मिट गया है, *वासुदेवः सर्वम् इति* का भाव जाग्रत हो गया है, उनके लिये परमात्मा को उनके सामने से उन बुरी ताकतों को, उन अवांछनीय सत्ता को, स्वयं आकर मिटाना पड़ता है । महापुरुष किसी का मंत्र-तंत्र या अन्य प्रकार से संहार नहीं करते, परंतु उनकी दृष्टि में सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा है, इसलिये उनका उद्धार हो जाता है, उनका भी कल्याण हो जाता है ।

जो महापुरुष कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत करके सहस्रार में परमात्मा के साथ निमग्न रहते हैं, परमात्मा के साथ लीन रहते हैं, उनके आसपास की वायुमंडल की तरंगें ही इतनी सात्विक हो जाती हैं, जिस में ये तामसिक आत्माएँ स्वयं दूर रहती हैं। चाहने पर भी वे पहुँच नहीं सकतीं।

स्वामी रामानंद जी के पास एक प्रेतात्मा किसी तरह पहुँच गयी थी, तो स्वामी जी की कृपा से उसका उद्धार हो गया था ।

धरती आकाश बीच पंथ चलता किया ।

अगम निगम महारस अमृत पिया ।

भूत-प्रेत दैत्य-दानव संहार किया ।

धरती आकाश बीच .. धरती अर्थात् यहाँ शरीर का निम्नतम भाग, जहाँ मूलाधार चक्र स्थित है, उसे और आकाश अर्थात् सबसे ऊपर जो चक्र है, सहस्रार की बात की गयी है । मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति या चितिशक्ति सुषुप्ति अवस्था में पड़ी रहती है । परंतु योग साधना के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करते हुए उसे सुषुम्ना मार्ग द्वारा सहस्रार चक्र तक पहुँचाया जाता है ।

दूसरे शब्दों में, धरती और आकाश के बीच का पंथ (पथ) चालू किया अर्थात् मूलाधार और सहस्राधार के बीच का सुषुम्ना का राजमार्ग चालू किया । अब तक प्राण का मार्ग अवरुद्ध था, अनेक अशुद्धियों ने मार्ग में विघ्न डाले हुए थे । वह मार्ग चालू नहीं था । परंतु योगी मूलबन्ध लगाकर, स्वर को उलटा करता है, तभी अभ्यास से प्राण बायीं इड़ा या दाहिनी पिंगला नाड़ी में न बहते हुए मध्य में सुषुम्ना में बहने लगता है । सुर उलटा करते हुए जब मध्य में स्थित सुषुम्ना का मार्ग चालू होता है, अर्थात् प्राण इड़ा-पिंगला में न बहते हुए जब सुषुम्ना में बहने लगता है, तब अनेक प्रकार का ज्ञान स्वतः ही योगी को होने लगता है। क्योंकि सहस्रार में प्राण पहुँचते ही उसका सीधा संपर्क ब्रह्मांड से होने लगता है ।

अगम निगम महारस अमृत पिया..... छः शास्त्र (अगम), चार वेद (निगम) के ग्रथों में जो परमात्मा के विषय में चर्चा की गयी है, उसका महारस अमृत पिया है । शास्त्रों में जिस ब्रह्मत्व को समझाने की चेष्टा की गयी है, उस दिव्य रस रूपी अमृत का पान किया है । उस ज्ञान को योगी स्वतः प्राप्त कर लेता है । उसे शास्त्रों को पढ़ने की, सीखने की, समझने की आवश्यकता ही नहीं रहती । वह ज्ञानामृत प्रकृति की तरफ से उपहार में मिल जाता है । परमात्मा स्वयं उसे प्रकृति तथा उनकी बनायी सृष्टि का यह रहस्य समझा देते हैं । योगी वह महारस का अमृत पीकर तृप्त हो जाता है ।

वायुमंडल में अवस्थित ज्ञान की तरंगें स्वतः उसके मस्तिष्क तक पहुँच कर उसे सब का ज्ञान करा देती हैं । ज्ञान सीखने उसे कहीं बाहर जाना नहीं पड़ता या किसी ग्रंथ का सहारा नहीं लेना पड़ता । जिसे ज्ञान का द्रष्टा कहा जाता है, उस वेद, पुराण, उपनिषद् का ज्ञान योगी ध्यान में बैठे-बैठे ही कर लेता है ।

*भूत-प्रेत दैत्य-दानव संहार किया ......*भूत-प्रेत अर्थात् भूमंडल पर भटकनेवाली अतृप्त आत्माएँ, दैत्य अर्थात् आसुरी भाव के लोगों और दानवों का योगी ने संहार किया । योगी समस्त ज्ञान का ज्ञाता बन गया है, उसके लिये कोई भूत, प्रेत, दैत्य या दानव का अस्तित्व ही नहीं रह जाता । अर्थात् उन सभी कोटि के जीवों का रहस्य, उनकी पीड़ा, पीड़ा का कारण और उसका निवारण उसे पता चल जाता है । ज्ञान होने से अतृप्त आत्माओं का रहस्य भी समझ में आ जाता है, इस प्रकार योगी भूत-प्रेत, दानव-दैत्यों का संहार कर सकता है । उसे ज्ञान हो जाने से उनके लिये परमात्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता । जैसे प्रकाश हो जाने से अंधकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार बोध हो जाने से भूत, प्रेत, दैत्य, दानव नाम की कोई सत्ता ही नहीं रह जाती । सर्वत्र परमात्मा ही परमात्मा परिपूर्ण दृष्टिगोचर हो जाते हैं ।

संसार में दो प्रकार के लोग होते हैं - दैवी संपदावाले और आसुरी संपदावाले। आसुरी संपदावाले लोग चाहते हैं कि संसार में किसी का कुछ भी हो, उनका सुख, उनका भोग अक्षुण्ण बना रहे । दूसरों को परेशान करके अपना स्वार्थ हल करने में ही जिनकी रुचि हो । दिव्य संपदावाले चाहते हैं कि वे भी सुखी रहे समाज भी सुखी रहे ।

दुर्योधन आसुरी संपदावालों का उदाहरण है, वह कहता है - सारा समाज मेरे लिये शरीर को त्यागने को तैयार है । परंतु अर्जुन दैवी

संपदावाला है, वह कहता है – हम अपने परिवारजनों को मारकर रुधिर में सने हुए भोगों को नहीं भोगना चाहते । दैवी संपदावाले व्यक्ति ही सात्विक शक्तिवाले होते हैं, जिनसे भूत-प्रेत आदि स्वयं दूर रहते हैं।

वज्र की कोठरी, वज्र का दण्ड लै,
वज्र के खड्ग से काल मारिया ।

वज्र की कोठरी की उपमा मानव शरीर को दी गयी है । वज्र का दंड शरीर की रीढ़ की हड्डी में स्थित सुषुम्ना नाड़ी को माना गया है । वज्र का खड्ग मूलबन्ध को मानकर योगी योग साधता है, तब उसका शरीर दिव्य बन जाता है । शरीर को वज्र जैसा स्थिर बना कर, रीढ़ की हड्डी को सीधा रखते हुए मूलबन्ध का अभ्यास करनेवाला योगी देह-भाव से परे हो जाता है। काल का प्रभाव तो पञ्च महाभूत पर ही हो सकता है। परंतु योगी पंच महाभूतों का बन्धन तोड़कर दिव्य देहधारी बन गया है । उसका शरीर चिन्मय बन गया है, इसलिये वह काल के प्रभाव को नष्ट कर सकता है ।

मेरुदंड में वज्रनाड़ी बहती है । वज्र के अंदर चित्रिणी है और चित्रिणी के भीतर सुषुम्ना नाड़ी अवस्थित है । सुषुम्ना के अंदर भी एक ब्रह्मनाड़ी है, जो परम चेतन तत्त्व को प्रवाहित करती है । वज्र अति कठोर अथवा मजबूत हथियार को कहा गया है । महर्षि दधीचि की अस्थि से इन्द्र का हथियार बनाया गया था, उसे वज्र कहा जाता है । शरीर को वज्रवत बनाकर योगी के पास ऐसी शक्ति आ जाती है, जिस से वे मोहजनित संसार को नष्ट कर देते हैं ।

स्वर को उलट के समस्वर करके सुषुम्ना में प्रवेश करके साधक किस-किस स्थिति में पहुँच सकता है, इसका वर्णन स्वामी जी ने सविस्तार किया है ।

साधक साधना में ऊर्ध्वरेतस हो जाता है, ब्रह्मचर्य का पालन कर सुदृढ़ बनता है । ब्रह्म में चरने से, अर्थात् परमात्मा में ही रत रहने से सहज ब्रह्मचर्य का पालन होता है । उस ऊर्ध्वरेतस महापुरुष का शरीर वज्रवत हो जाता है । हनुमान जी का शरीर वज्र जैसा हो गया था । इसलिये उनको वज्र अंग - बजरंगबली कहा जाता है ।

काल मारिया.....कालातीत स्थिति का अर्थ काल के कारण दिन-रात, महीने, वर्ष, बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि आते हैं । योगी साधना में आगे बढ़ता है, तो उसका शरीर बालकवत् ही बना रहता है,

अर्थात् काल की असरों से परे हो जाता है । बालक की तरह निर्मल, निर्दोष और निश्चल उसका शरीर रहता हैं। अवधूत स्थिति में ही वह योगी रहता है।

गरुड़ पक्षी उड़िया नाग नागिनी डसिया
विष की लहर सो निद्रा न झपें ।

गरुड़ पक्षी......उपनिषद् में आया है, जीवात्मा और परमात्मा - दोनों हृदय गुहा में एक ही डाली पर बैठे हैं । उसके लिये सुपर्णो: शब्द का भी प्रयोग किया गया है । यहाँ जीवात्मा को ही गरुड़ की संज्ञा दी गयी है । गरुड़ शुद्ध, बुद्ध, चेतन, अविनाशी व अमर आत्मा है, वह ऊपर की ओर उड़ान भरता है और जीवात्मा कभी खट्टे तो कभी मीठे फलों को खाता हुआ सुख-दु:ख का भोक्ता बन रहा है ।

गरुड़ पक्षी जीवात्मा का प्रतीक है । कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में सर्पाकार पड़ी हुई है । गरुड़ पक्षी अर्थात् जब प्राण अपान एकत्रित होकर कुण्डलिनी को जाग्रत करते हैं, तब समस्त शरीर के विष को वह खा जाती है । बहुत लम्बे समय से भूखे नाग की भाँति शरीर में जमे मैल को खा जाती है । शरीर का मैल अर्थात् मानसिक दोष, दुर्गुण ।

जब क्रोध में मानव भर जाता है, तो उसके शरीर में विष उत्पन्न होता है । काम, लोभ आदि किसी भी दुर्गुण शरीर में विष उत्पन्न करता है । मानव देह में दुर्गुणों के कारण विषैले रस स्राव उत्पन्न होकर जमा होते रहते हैं । जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है, तब वह विष को खा जाती है, और साधक में सद्गुणों की वृद्धि होती है ।

नाग-नागिनी ......रामचरितमानस में संशय सर्प ग्रस्यो को नाग - संशयरूपी सर्प डँस लेता है अर्थात् हम श्रद्धा से रहित हो जाते हैं । परंतु साधक जब साधना में आगे बढ़ता है, तो नाग-नागिनी के डँसने का प्रभाव उस पर नहीं होता अर्थात् संशयरूपी नाग और चिंतारूपी नागिन, दोनों के प्रभाव डालने पर भी विष की लहर से भी प्रभावित नहीं होता ।

गरुड़ पक्षी और नागों का वैर युगों से चलता आ रहा है ।

विष की लहर...योगी के जीवन में संशय और चिंता का कोई दुष्प्रभाव देखने को नहीं मिलता । परमात्मा के चिंतन में वह इस प्रकार डूब जाता है, कि संसार की सब चिंताओं से मुक्त हो जाता है । श्रद्धा की ऊँची स्थिति में पहुँच जाता है ।

निद्रा न झपै...सामान्यत: कहा जाता है कि जिस को विष की असर हो, उसे सोने नहीं दिया जाता । निद्राधीन व्यक्ति को विष का असर तत्काल हो जाता है । योगी निद्रा से जाग जाता है, सुषुप्तावस्था से जाग जाता है । निद्रा की झपकी भी अब उसे व्याकुल नहीं करती । निद्रा तमोगुण का प्रभाव है । अब तमोगुण का प्रभाव योगी पर बिलकुल नहीं रहता ।

पिण्ड निर्मल हुआ पिञ्जरे पड़ो सुआ
रोग पीड़ा व्यथा नहिं देह व्यापें ।

जब शरीर का मैल कुण्डलिनी साफ कर देती है, तब पिण्ड - शरीर निर्मल हो जाता है । तैत्तरीय उपनिषद् में पिण्ड को पाँच आवरणोंवाला बताया है । आत्मा पर पंचकोशी आवरण है, जो अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनंदमय कोश के नाम से जाना जाता है । कुण्डलिनी जागरण प्राणमय कोश की घटना है, जिससे प्राणोत्थान हो जाता है । कुण्डलिनी जागरण महाचेतना का जाग्रत होने का लक्षण है ।

हठयोग में मनोमय कोश पर नियंत्रण करने के लिये प्राणमय कोश पर कार्य करने का विधान है । मन की वृत्तियों को मन के द्वारा ही पकड़ में लाना बहुत मुश्किल है, क्योंकि मन अति सूक्ष्म है । मन पर नियंत्रण के लिये, चित्तवृत्ति के निरोध के लिये भक्तियोग में सीधे ही मन को प्रभु स्मरण में अथवा जप में लगाते हैं । किसी प्रकार मनोमय कोश की शुद्धि हो जाए, तब पिण्ड निर्मल हो जाता है । जाग्रत कुण्डलिनी अन्नमय कोश की शुद्धि कर देती है ।

हठयोग में आसन, प्राणायाम और मुद्रा को साधन बनाकर शरीर से आरंभ करते हुए प्राणजय या प्राणोत्थान तक जाने का विधान है । परंतु इन क्रियाओं में शरणागति को ही मुख्य आधार मानकर चलने की बात को स्वामी जी बार-बार दोहराते हैं, जिस से अहंकार न आने पाये ।

सुआ अर्थात् आत्मा पिंजरे में रहने पर भी , शरीर में रहने पर भी शरीर के गुणधर्म – रोग, पीड़ा या व्यथा देह में व्याप्त नहीं होती । उससे रोग या पीड़ा देह को पीड़ित नहीं करती । अन्नमय कोश की स्थिति इस प्रकार हो जाती है, कि जीवात्मा के शरीर में रहते भी किसी प्रकार का रोग या पीड़ा देह में नहीं होता क्योंकि शरीर के, अन्नमय कोश के सब विकारों को, समस्त विष को वह चेतना निगल जाती है ।

रोम रोम ररंकार उच्चरंत वाणी
श्रवण सुनत गुरु के शब्द सो जानी, ख्याल करता रहै

रोम-रोम मे ररंकार की वाणी का उच्चार होता रहता है । शरीर में नाभिकमल या मणिपुर चक्र बहुत महत्त्वपूर्ण है । नाभि शरीर में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । माता के गर्भ में बालक को पोषण नाभि के द्वारा ही प्राप्त होता है । मणिपुर चक्र का बीज रं है। महापुरुष जब मणिपुर चक्र का भेदन करते हैं तो उसका फिर पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपुर चक्र से ऊपर उठे हुए साधक का फिर पतन नहीं होता । संसार के आकर्षण उसे फिर लिप्त नहीं कर सकते ।

शरीर दिव्य हो जाता है, आभा, तेज और प्रकाश बढ़ जाते हैं । उसके प्रत्येक रोम से ररंकार की ध्वनि सुनाई देती है । ररंकार नाद का ध्वनियों का प्राण है, वह प्रगट हो जाता है । संतों के शरीर के रोम-रोम से, उनकी कुटि से, वृक्ष के पत्तों से भी ध्वनि आती है ।

वाणी के चार स्थान हैं । मणिपुर चक्र में नाभि से परावाणी, अनाहत चक्र में हृदय से पश्यंती, कंठ प्रदेश में विशुद्ध से मध्यमा और तीनों मिलकर वैखरी वाणी अस्तित्व में आती है । वैखरी वाणी से जाग्रतिपूर्वक किये गये जप का अभ्यास जब सुदृढ़ होता है, तो जप के मंत्र का प्रवेश क्रमशः मध्यमा, पश्यंती और अंत में परावाणी तक पहुँच जाता है । परावाणी का जप बाद में रोम-रोम में व्याप्त हो जाता है ।

ररंकार का तात्पर्य राममंत्र से है, जिसका चक्र मणिपुर है । जब मणिपुर चक्र जाग्रत होता है, तब रोम-रोम से ररंकार की ध्वनि सुनाई देती है । प्राणविद्या में सफलता के लिये मणिपुर का जागरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है । मणिपुर का शाब्दिक अर्थ रत्नों की नगरी अथवा रत्नपुर होता है । उसका नाम मणिपुर इसलिये है क्योंकि यहाँ प्राण ऊर्जा का भंडार है और उसका सम्बन्ध उष्मा, जीवनी शक्ति, गतिशीलता, उत्पादन और परिरक्षण से होता है । बहुधा उसकी तुलना जाज्वल्यमान सूर्य के गोले के साथ की जाती है, जो समूचे चराचर जगत का जीवन-स्रोत है ।

प्रकृति के तीन गुणों से मणिपुर मुख्यतः रजोगुण अर्थात् क्रियाशीलता, गतिशीलता, सामर्थ्य एवं इच्छाशक्ति द्वारा प्रभावित होता है । मणिपुर का तत्त्व अग्नि है और उसकी ऊर्जा समान प्राण ऊर्जा है, जो भोजन

को पचाती तथा पोषक तत्त्वों को समाविष्ट करती है । इसका बीजमंत्र ही "रं " है ।

आंतरिक चेतना के जागरण और प्रकृति की बाह्य शक्तियों को प्रभावित करने के उद्देश्य से मंत्र तथा उसकी सूक्ष्म ध्वनि का उपयोग होता आया है । ध्वनि एक विशेष आवृत्तिवाले कम्पन से होती है, जो किसी भी जीव में परिवर्तन लाने में सक्षम होती है । ध्वनि एक प्रकार की ऊर्जा है, जिसकी अपनी तरंगवृत्ति, स्वर, आयतन, वेग तथा अन्य अनेक सूक्ष्म विशेषताएँ हैं ।

जब एक मंत्र किसी सिद्ध गुरु के द्वारा प्राप्त होता है, तो उसमें ब्रह्मांडीय ऊर्जा की विशेष शक्ति निहित रहती है । जब एक मंत्र का एकदम सही ढंग से उच्चारण होता है, तो वे ऊर्जा, विचार एवं प्रतीक संप्रेषित करते हैं, जिसमें ज्ञान भरा रहता है । इसलिये मंत्र मात्र ध्वनि नहीं, परंतु ध्वनि के प्रगटित तत्त्व होते हैं । मंत्रों का ज्योतिर्मय आकार भी होता है, जिसे यंत्र कहा जाता है ।

मंत्र साधना में ध्वनि, देवता, चक्र और आवाहन का ध्यान रखना आवश्यक है। ध्वनि सही होनी चाहिये । देवता का तात्पर्य मंत्र की अभिव्यक्ति हेतु दिव्यता या मंत्र के ज्योतिर्मय आकृतिवाले देवता से है। मंत्र की अभिव्यक्ति के प्रतीक हैं मंत्र के देवता । प्रत्येक मंत्र के अतीन्द्रिय केन्द्र या चक्र एकाग्रता के बिन्दु होते हैं, जो मंत्र से अत्यधिक प्रभावित होते हैं । आवाहन एक गुप्त प्रार्थना या श्लोक होता है, जो मंत्र के साथ बोला जाता है । मंत्र का सही आवाहन किया जाए, तो वह निश्चय ही ऊर्जा के स्वरूप में परिवर्तन लाता है, जो भौतिक शरीर में संचारित होता है ।

परंतु जब रोम-रोम में परावाणी से उच्चारण होने लगता है तब साधक जाग्रति में अथवा अजाग्रत अवस्था में ररंकार की ध्वनि स्वयं भी सुन सकता है और अन्य जन भी उसे सुन सकते हैं ।

समस्त जीव की संकल्प की भाषा भी वही परावाणी ही है । पशु, पक्षी, मानव, सबकी संकल्प की भाषा एकमात्र परावाणी है, जिसे सिद्ध-पुरुष सुन सकते हैं, समझ सकते हैं । परंतु वह वाणी मध्यमा और वैखरी तक आते-आते बहुत संकीर्ण हो जाती है और सबकी वाणी अलग-अलग भी हो जाती है ।

श्रवण सुनत गुरु के शब्द......जिनको गुरु के शब्दों में आस्था है, विश्वास है, वे इस परावाणी को अपने कानों से, श्रवणों से सुन सकते हैं ।

गुरु के शब्दों का जो चिंतन करता रहता है, वे हरेक स्थिति में अपने श्रवणों से ररंकार वाणी सुन सकते हैं । *मंत्रमूलं गुरुर्वाक्यम्*...गुरुमुखी जो होते हैं, जिनके लिये गुरुवाक्य ही सर्वोपरि सत्ता है, गुरु के वाक्य के सिवाय और कोई मंत्र जिनके लिये महत्त्व के नहीं हैं, वे ही इसको सुन सकते हैं । जिस साधक पर गुरुदेव की छत्रछाया है, श्री गुरुवर का वरद हस्त है, जो गुरुदेव के शब्द में पूर्णनिष्ठ है, उस साधक में झिलमिल ज्योति झलकती रहती है । अंदर-बाहर सब जगह वह ज्योति झलकती है, उसका कभी अभाव नहीं होता है ।

जब शुष्क काष्ठ होता है, तो एक चिनगारी अग्नि प्रगट कर देती है, वैसे ही अंतःकरण शुद्ध हो, तो गुरु का एक वाक्य ज्ञान प्रगट कर देता है। ***गुरु बिनु होई कि ज्ञान, ज्ञान कि होई बैराग बिनु*** । बिना बैराग्य के ज्ञान नहीं । ज्ञान तो जीव के पास है ही, परंतु उसके ऊपर मलविक्षेप के आवरण चढ़ गये हैं, उसे दूर करना है । जिस प्रकार भूमि में जल है । कुआँ खोदते समय ऊपर से मिट्टी-पत्थर हटाते जाने से जल प्रगट हो जाता है , ठीक उसी प्रकार ज्ञान प्रगट हो जाता है ।

ममैवांशो जीवभूते जीवलोकः सनातनः - जीव सदैव परमात्मा का ही था, है और रहेगा । पूर्ण वैराग्यवान व्यक्ति को जब गुरु का शब्द निलता है, तो वह ज्ञानी हो जाता है । मुरु वाक्य का सदैव ख्याल करता रहता है, वह भूलता नहीं है ।

स्वामी श्री रामानंद जी श्रीराम नाम के जप को अति महत्त्व देते हैं । जप इतना एकाग्रतापूर्वक और तैलधारावत् होना चाहिये कि साधक के रोम-रोम में ररंकार की ध्वनि गूँजने लगे । स्वतः ररंकार की वाणी साधक उच्चारता रहे । गुरु के उपदेशानुसार जीवनयापन करते हुए साधक प्रयत्नपूर्वक गुरु वाक्यों के मर्म को समझते हुए, उनकी वाणी को, उनके शब्दों को जानते हुए, उनके निर्देशन में साधना करे तो समस्त विश्व के प्रति, चराचर जीव सृष्टि के प्रति, वह समदृष्टि प्राप्त कर सकता है । गुरु के प्रति समर्पित भाव से रहते हुए साधक निरञ्जन पद को प्राप्त होता है ।

स्वामी जी के पाँच सौ विरक्त संत काशी में गंगा किनारे पंचगंगाघाट पर साधनारत रहते थे । द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, आदि के विद्वान वहाँ आकर व्याख्या करते थे । तुलसीदास जी ने स्वामी जी की विचारधारा को द्वादश महाकाव्यों के द्वारा अभिव्यक्त किया है । उसमें परमात्मा के प्रत्येक स्वरूप को स्वीकार किया गया है । परमात्मा को किसी

भी सीमा में बाँधना उनकी परम सत्ता का अस्वीकार है । तुलसीदास जी वादों के चक्कर में पड़ना नहीं चाहते । साधना के द्वारा परमात्मा को अपने अंदर प्रगट किया जाता है । दर्शन द्वारा उनको समझा जाता है, देखा जाता है । विद्या या विद्वान उसे कहा जाता है, जो शास्त्रों का अपने अंदर दर्शन करे । वाद-विवाद से परमात्मा कोसों दूर हो जाते हैं । इसलिये स्वामी श्री रामानंद जी स्वयं अनुभव करने की प्रेरणा देते हैं।

सो जानी, ख्याल करता रहै*......साधक गुरु वाक्यों को अमल में रखता है, उसे अनुभव से जान लेता है और सदैव गुरु के शब्द और उसके मर्म का ख्याल करता रहता है । उसका अनुसंधान करता रहता है । गुरु कहते हैं हम उसी परमात्मा के हैं, हम उससे दूर नहीं हैं, उसे अपने अंदर देखो। जब गुरुवाक्य का वह ख्याल करता रहता है, तब समदृष्टि उसके लिये सहज बन जाती है । उस स्थिति के लिये उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता । समत्व की दृष्टि आ जाती है, जिस को शास्त्रों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रतिपादित किया गया है । उदाहरणार्थ.....विश्वरूप रघुवंश मनि.....वासुदेवः सर्वम् इति....सिया राम मय सब जग जानी***..यह स्थिति ज्ञानी की आ जाती है । जब व्यक्ति भक्ति के माध्यम से परमात्मा के साथ जुड़ जाता है, तो वह परमात्मा का ही हो जाता है । परमात्मा उसे अपने परिकर की भाँति अपना लेते हैं ।

गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं - ***उपद्रष्टा अनुमंताच भर्ता भोक्ता महेश्वरः*** ..। वह अनुमंता है । किसी भी बात का वे अनुमोदन कर देते हैं ।

उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ-निकृष्ट, ऊँच-नीच, बालक-वृद्ध कोई नहीं रहता। वह समदृष्टिवाला बन जाता है। सर्वत्र एकमात्र परमात्मा का लीला-विलास वह देखता है। परमात्मा ने अपने खेल के लिये भिन्न-भिन्न कठपुतलियाँ बनाई हैं, और सब अपना-अपना अभिनय निभा रहे हैं । उनमें कोई गलत नहीं है, कोई सही नहीं है । सर्वत्र परमात्मा का स्वरूप दिखाई देता है। जिस प्रकार स्वर्णकार को सब आभूषणों में मात्र स्वर्ण ही दिखता है, उसी प्रकार योगी को सभी जगह परमात्मा दिखाई देते हैं।

समदृष्टि मुष्टि मेला झिलमिली
ज्योति झलकार झलकत रहै ।

यह स्थिति बाह्य नहीं परंतु अंदर से होती है । यह समझ उसकी मुट्ठी में, वश में होती है, ऊपर से लादी हुई नहीं है । समदृष्टि का वह

स्वामी बन जाता है, उसके लिये कोई आयास प्रयास नहीं करना पड़ता । यह बहुत ऊँची स्थिति है ।

झिलमिल ज्योति....परमात्मा की जो परम शीतल ज्योति है, उसकी झिलमिल झाँकी मिल जाती है । साधकों को साधना काल में भिन्न-भिन्न तत्त्वों के रंग दिखाई देते हैं, उनको ही वे परमात्मा की ज्योति समझ लेते हैं । परंतु वह ज्योति सबसे भिन्न है । बारह राशियों के रंग भिन्न हैं । देश-काल और परिस्थिति के अनुसार लग्न भिन्न हैं, उनके रंग भिन्न हैं। उनको देख साधना की ऊँची स्थिति साधक मान लेता है, परंतु जब तक समदृष्टि अपने वश में न हो जाए, मुष्टि मेला न हो जाए, तब तक साधना अधूरी है । उस समय अंदर-बाहर ज्योति झलकती रहती है, वह परमात्मा की ज्योति है । एकबार जो उस ज्योति का दर्शन कर लेता है, उसे संसार का कोई रूप-रंग आकर्षित नहीं कर सकता ।

ज्योति ध्वनि ध्वनि में ज्योति,
नाद बिन्दु मिल गया, रंग रेला
शून्य का नेहरा शून्य सूझता रहै ।

ज्योति और ध्वनि, ...दोनों को एक रूप में दर्शाया गया है । एक ही तत्त्व की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न स्वरूप से होती है । जिस प्रकार बिजली का उपयोग प्रकाश के लिये, गरमी के लिये, ठंडी के लिये, यंत्र-चालन के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है, वैसे ही तरंग का उपयोग ज्योति और ध्वनि में होता है । ठीक उसी प्रकार परमात्मा के संकल्प तरंगों का प्रभाव ज्योति और ध्वनि, दोनों में होता है । साधक उस स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ वह दोनों तरंगों को पकड़कर उनमें परम तत्त्व का साक्षात्कार कर सकता है । ज्योति में वह ध्वनि को देखता है और ध्वनि में ज्योति को देख सकता है । ध्वनि का नाद और बिन्दु में रूपांतरण हो जाता है ।

आजकल देखा जाता है कि मात्र तरंगों के संयोजन से ही टी.वी. में ध्वनि भी है और ज्योतिर्मय रूप या आकृति भी । रेडियो में भी तरंगों का ध्वनि में रूपांतरण देखा जाता है । परमात्मा की परम ज्योति या ध्वनि अथवा नाद या बिन्दु, सबकुछ परमात्मा के एक ही तत्त्व का निरूपण है, वह समझ साधक में आ जाती है । और वह समझ आने से रंग रेला अर्थात् परम आनंद की प्राप्ति हो जाती है ।

हमारे चारों ओर जगत में विभिन्न प्रकार की ऊर्जाएँ अभिव्यक्त होती रहती हैं । जैसे प्रकाश, ध्वनि, ऊष्मा, गति आदि-आदि । अभिव्यक्ति के विभिन्न तलों पर ब्रह्मांड का अस्तित्व कायम है । स्थूल रूप में देखें तो ब्रह्मांड का अस्तित्व पदार्थ के रूप में होता है । अन्य तल पर प्रकाश के रूप में, तो एक अन्य तल पर ध्वनि के रूप में उसकी अभिव्यक्ति होती है । मंत्र साधना का प्रयोजन ध्वनि ऊर्जा की मुक्ति से होता है । वह चेतना के उन्नयन हेतु भी होता है ।

उस दिव्य ज्योत के द्वारा वह एक ही ऊर्जा भिन्न-भिन्न उपकरणों में भिन्न-भिन्न कार्य करती है । उन सब के मूल में आदि शक्ति है, वह तीन रूप में इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और द्रव्यशक्ति के रूप में कार्य करती है । वह आदि शक्ति जगदंबा पराम्बा श्रीसीता जी की लीला है । वही इच्छाशक्ति हमारे अंदर संकल्प पैदा करती है । क्रियाशक्ति के द्वारा वह कार्य करती है, द्रव्यशक्ति के द्वारा साधनों की पूर्ति कर परिणाम देती है । जीव जब साधना में आगे बढ़ता है, ये तीनों शक्तियाँ साधक के अनुकूल होकर समन्वय रखते हुए कार्य करती हैं ।

जिस प्रकार परमात्मा की इच्छाशक्ति प्रगट होते ही क्रियाशक्ति तत्काल उसे क्रियान्वित कर देती है, उसी प्रकार योगी महापुरुषों का संकल्प तत्काल फलीभूत हो जाता है । यह सब खेल है, विस्तार है, वह सब शून्य का विस्तार है, महाशून्य ... महा आकाश... । उसीमें ज्योति है, उसीमें ध्वनि है । यह सब साधक को स्पष्ट दिखता है ।

नाद बिन्दु मिल भया.....मंत्र साधना के द्वारा साधक अभिव्यक्ति के उस तल तक पहुँच जाता है, जहाँ प्रकाश, ज्योति और ध्वनि सब एक-दूसरे में सम्मिलित होकर भिन्नता का भेद मिट जाता है । राम नाम के रटण से मणिपुर चक्र जाग्रत होता है और ऊर्जा बाद में अनाहत चक्र तक पहुँचने का मार्ग तैयार करती है । हृदय के पीछे अवस्थित अनाहत चक्र जब जाग्रत होता है, तब नाद बिन्दु मिल जाता है, सर्वतोमुखी विश्व प्रेम जाग्रत होता है । वह दूसरों की भावनाओं के प्रति बड़ा ही संवेदनशील होता है ।

आत्मा की इच्छाशक्ति के प्राणवायु पर आघात के परिणामस्वरूप मणिपुर चक्र में नाद व्यक्त होता है । यही परावाणी है । आरोह की गति में यह ऊपर की ओर उछलता है और अनाहत में पहुँचकर इसे पश्यंती कहा जाता है । इसके पश्चात पुनः गति लेकर अनाहत में बुद्धितत्त्व से संयोजित होकर इसका स्वरूप मध्यमा हो जाता है । इसके अनन्तर यह शिर की ओर

जाता है और तालु , कण्ठ, जिह्वा, ओष्ठ तथा दाँतों तक आता है । यह जिह्वा में चारों ओर फैल जाता है और नासिका के अग्र भाग तक आ जाता है तथा जो कुछ शेष रह जाता है वह कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि में समाया रहता है एवं ओष्ठ और कण्ठ से वर्णाक्षरों का उच्चारण होता है ।

अनाहत चक्र का सम्बन्ध मनोमयकोश से होता है, जो भावनाओं को नियंत्रित करता है । साधक प्रारब्ध की जकड़ से छूटकर अपनी नियति के नियंत्रक बनते हैं । यह चक्र अत्यंत सूक्ष्म ब्रह्मांडीय ध्वनि, अनाहत नाद का केन्द्र है ।

बिन्दु एक गौण चक्र है , जो सिर के पीछे शिखा के स्थान पर होता है । वह शून्य का प्रवेशद्वार है और अन्तिम स्रोत है, जिसमें सभी वस्तुओं की अभिव्यक्ति होती है और जिसमें उन सबका विलय भी है । बिन्दु में ब्रह्मांड की करोड़ों वस्तुओं की विकास की संभावना तथा सृष्टि की अन्तिम रूपरेखा निहित होती है । यही अमृत का उत्पत्ति स्थान भी है ।

अर्धचंद्र और अमृत की सफेद बूँद, जिसे सृष्टि का स्रोत कहते हैं, बिन्दु का प्रतीक होता है । यह चन्द्रमा अमृत की बूँदें उत्पन्न करता है, जो बड़ा मादक होता है, किन्तु सूर्य उसे निगल जाता है । अर्थात् सामान्य जीवन में बिन्दु से अमृत की जो बूँद झरती है, उसका मणिपुर चक्र के अग्नि तत्त्व द्वारा भक्षण कर लिया जाता है । अमृत के इसी व्यर्थ उपभोग के फलस्वरूप मानव को जरा, व्याधि और मृत्यु के अधीन होना पड़ता है । योगी इस साधारण प्रक्रिया को उलटा कर बूँद को मणिपुर तक जाने से रोककर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है । ऐसे अनेक योगी हिमालय में आज भी हैं ।

स्वामी रामानंद जी बूँद को नाद में अर्थात् अनाहत में रोककर रंग को रेला कहकर अमृत की बूँद को शरीर में ही प्रवाहित करने की बात करते हैं । ऐसा होने से शून्य को शून्य में मिलना हो जाता है ।

गुरु का नाद बिन्दु, कला रूप में विद्यमान कहा गया है । खेचरी मुद्रा के अभ्यास से या प्राणायाम के अभ्यास से ब्रह्मग्रंथि का भेदन होता है तब आनंद को उत्पन्न करनेवाला नाद उत्पन्न हो जाता है । उस से योगी का शरीर दिव्य गंध से परिपूर्ण, रोगरहित दिव्य हो जाता है ।

इस अवस्था में स्थित योगी के लक्षण स्वामी जी वर्णन करते हैं । जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है तब नाद, बिन्दु, कला, ज्योति ये अलग नहीं रह पाते । हृदयकमल में कुण्डलिनी शक्ति समाविष्ट हो जाती है । अपना तेज

परित्यक्त करती है और केवल प्राण स्वरूप में अवशिष्ट रह जाती है । वही शक्ति और वही प्राण बन जाती है ।

चितिशक्ति जब ज्योति के निकट होती है, जो केवल चैतन्य है, तब परिवर्तन भाव से युक्त हो जाती है, या परिवर्तन की कामना का उनमें उदय होता है और उस दशा में ज्योति घनीभूत होकर बिन्दु रूप में हो जाती है ।

*शून्य का नेहरा......*ध्वनि, ज्योति, नाद अथवा बिन्दु, जिस से हम परिचित हैं, वह स्वरूप में नहीं, अपितु शून्य स्वरूप है । जिस को शास्त्रों ने महाशून्य कहा है, उसको भगवान शंकराचार्य जी ने अद्वैत का नाम दिया है । शून्य, महाशून्य, अद्वैत की परिभाषा भले ही अलग हो, परंतु वही परिपूर्ण ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता के विविध स्वरूप हैं ।

जिस प्रकार एक कमरे का सब सामान निकाला जाए, हवा भी निकाल ली जाए, तो बाद में शून्य बचता है, वहाँ परमात्मा बचते हैं, वहाँ से परमात्मा को नहीं निकाला जा सकता । इसी बात को वेदों ने *नेति नेति* कहकर दर्शाने का प्रयत्न किया है । योगी उस स्थिति में पहुँच जाता है, कि उसे शून्य सूझता रहता है, अथवा परम सत्ता को उस स्वरूप में पकड़ सकता है ।

वहाँ न तो कोई वृत्ति है, न कोई विचार है । केवल शून्य, परिपूर्णतम ब्रह्म या आत्म तत्त्व, जो भी शब्द कहा जाए, उसमें योगी अवस्थित हो जाता है । सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म ही ब्रह्म है । जिस प्रकार गेहूँ बोये जाने के पहले भी गेहूँ था, जब अंकुरित हो जाता है, तब दिखने में भले ही घास हो, परंतु किसान उसे गेहूँ ही कहता है और फसल तैयार होने के बाद भी गेहूँ है। उसी प्रकार सृष्टि आदि में भी ब्रह्म थी, मध्य में भी ब्रह्म है और अंत में भी ब्रह्म होगी। वैसे सृष्टि का आदि-अंत होता ही नहीं है । सृष्टि और कुछ भी नहीं है, जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती हैं, विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में अनेक तरंगें - सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, पालन होती हैं और लीन हो जाती हैं ।

जेहि जाने जग जान हेराई, जागे जथा स्वप्न की नाई । उस परमात्मा को जान लेनेमात्र से जगत नाम की कोई सत्ता ही नहीं रहती है । *कर्म की होई स्वरूप ही चिन्हें...* कोई अपने स्वरूप को जान लेता है, तो वह कर्म के बंधन से मुक्त हो जाता है क्योंकि उसे पता चल जाता है, कि यह सब शून्य का विस्तार है, शून्य का खेल है । सब शून्य ही शून्य है ।

परिपूर्ण ब्रह्म और महाशून्य एक ही है, परंतु हमारी समझ के लिये अलग हो जाता है । जब हम शून्य कहते हैं, तो उसमें कोइं भाव नहीं पैदा होता, परंतु जब उसे परमात्मा से परिपूर्ण ब्रह्म के रूप में देखते हैं, तो हमारे अंदर भाव प्रगट हो जाता है । जैसे हम कहते हैं कि सारी सृष्टि परमात्मा से परिपूर्ण है । *ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णातपूर्णमुदच्यते। पूर्णस्यपूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते* । वह परमात्मा अपने-आप में परिपूर्ण है । परमात्मा अपने-आप में निराकार है । निराकार का अर्थ है, हमारी मन बुद्धि से हमने जितनी भी आकृतियों को जाना है, वह उससे परे हैं । जितनी भी आकृतियाँ हैं वे परमात्मा से निकलती हैं । इसलिये परमात्मा निराकार है ।

परमात्मा निर्गुण है अर्थात् जितने भी गुण हैं, सब परमात्मा से निःसृत होते हैं परंतु वह सब गुणों से परे हैं । और दूसरे शब्दों में जितने भी दिव्य गुण हैं वे सब परमात्मा से ही निःसृत होते हैं । वे परमात्मा के ही आश्रित हैं । जिस प्रकार वर्षा का जल गहरे स्थानों पर ही संग्रहीत हो जाता है, उसी प्रकार सब दिव्य गुण उसी व्यक्ति के पास एकत्रित हो जाते हैं, जिसका अहंकार विसर्जित हो गया हो । *समिट समिट जल भरहिं तलाबा, जिमि सद्गुण सज्जन पहिं आवा* । जो व्यक्ति अपने-आपको खाली कर देता है, अपना अहंकार मिटा देता है, सभी सद्गुण उसके पास अपने-आप आ जाते हैं । शून्य अर्थात् अपने-आपको खाली करना है, अपना अहंकार मिटाना है ।

हम परमात्मा के विषय में किसी प्रकार की कल्पना न करें, क्योंकि वह बहुत विराट हैं । *अणुतोरणीयम्, महतोमहनीय*...वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है और विराट से भी विराट हैं । जिस प्रकार कोई छोटे-से चम्मच से समुद्र को नापने चलें, क्या यह संभव है ? हमारी बुद्धि छोटी-सी चम्मच है । समुद्र तो फिर भी छोटा है, परंतु परमात्मा *रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मांड*....अनंत कोटि ब्रह्मांड परमात्मा के मात्र एक रोम में समाहित है । वह हमारी बुद्धि में कैसे आये ?

परंतु जब साधक पुरुषार्थ करते-करते थक जाता है, जब उसे समझ में आता है कि वह कुछ नहीं कर सकता, और तब परमात्मा स्वयं अपने-आपको प्रगट करते हैं । **पुरुषार्थ करना आवश्यक है, थकना भी आवश्यक है । परंतु परिणाम तो परमात्मा की कृपा पर ही निर्भर है ।**

यदि वह सगुण साकार स्वरूप की कामना करता है, तो परमात्मा सगुण साकार स्वरूप में प्रगट होते हैं, यदि वह निर्गुण निराकार की कामना

करता है, तो वह उसी रूप में उसके सन्मुख प्रगट होते हैं । परमात्मा न सगुण है, न निर्गुण है, वह तो दोनों से परे है । परंतु आवश्यक यह है कि उसका अहंकार गलित हो जाय, वह शून्य में अवस्थित हो जाए । परमात्मा माया से परे है...वह माया का अधिष्ठान भी है, माया से परे भी है ।

आप सो आप मिलि आप जाय लागिया
शरीर सो शरीर मिलि शरीर स्पर्शता रहै ।
जीहि सो जीहि मिलि ब्रह्म जागिया

अपने अपनत्व को उस परमात्मा में विलीन करना है । जीव कभी परमात्मा से अलग नहीं है, परंतु वह अपने को अलग मान बैठा है कि परमात्मा कहीं बाहर है, उन्हें ढूँढना है, उनको पाना है आदि-आदि । परंतु साधक की इस स्थिति पर यह भ्रांत धारणा मिट जाती है । हृदयरूपी गुहा में जीवात्मा और परमात्मा एकसाथ ही रहते हैं । जीव अपने कर्मानुसार फल भोगता है और परमात्मा तटस्थ कूटस्थ साक्षी भाव से उसे देखते रहते हैं ।

परमात्मा की चेतना से ही जीवात्मा चेतनवंत है । परमात्मा की चेतना से जीवात्मा से शरीर चेतनवंत बनता है, इन्द्रियाँ चेतनवंत बनती हैं और भिन्न-भिन्न कार्य करती हैं । पंच महाभूत से यह स्थूल शरीर बना है। मन, बुद्धि, अहंकार से सूक्ष्म शरीर बना है और जीवात्मा का कारण शरीर है। शरीर जब अलग हो, तभी स्पर्श कर सकता है । साधक को यह स्पष्ट अनुभव होता है कि स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर अलग-अलग है और एक-दूसरे को स्पर्श करता है ।

जीवात्मा और परमात्मा का मिलन हृदयरूपी गुहा में हो जाता है, तब ब्रह्माकार वृत्ति जाग जाती है । कुण्डलिनी जब सहस्रार में पहुँच कर अपनी शक्ति और तेज का लोप कर देती है, तब देह का रूप भी मिट जाता है । योगी इतना सूक्ष्म हो जाता है । उसके शरीर में पृथ्वी तत्त्व, जल तत्त्व और अग्नि तत्त्व का विलय हो जाता है और मात्र वायु और आकाश तत्त्व ही रह जाते हैं । इस प्रकार का शरीर प्राप्त करने पर उसे खेचर कहते हैं । यह पद प्राप्त होते ही अनेक चमत्कार प्रगट होने लगते हैं ।

जब तक कुण्डलिनी ब्रह्म में विलीन नहीं हो जाती, तब तक उसकी शक्ति बनी रहती है । फिर वह जालन्धर बन्ध छोड़ देती है और सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है एवं गगनरूपी पहाड़ी पर जा पहुँचती है ।

अब कुण्डलिनी ओंकार की पीठ पर पाँव रखकर शीघ्रता से पश्यंती वाक् रूपी सीढ़ी पर चढ़ जाती है और जिस प्रकार सागर में सरिता मिलती है, उसी प्रकार ओंकार की अर्ध मात्रा तक हृदयाकाश में जा मिलती है । फिर ब्रह्मरंध्र में स्थिर रहकर सोऽहं भाव रूपी भुजाएँ फैलाकर दौड़ती हुई परब्रह्म से मिल जाती है । उस काल में पंच महाभूतों का आवरण विदीर्ण हो जाता है और शक्ति का शक्तिमान के साथ महामिलन हो जाता है । उस ब्रह्मानंद में आकाश तत्त्व सहित सबकुछ विलीन हो जाता है । उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो समुद्र ही मेघों के मुख से निकलकर नदी प्रवाह में बहकर अपने-आप में ही मिल गया हो । मानो ब्रह्म ही ब्रह्मपद में समाविष्ट हो गया हो । ऐसी लोकोत्तर एकता की दशा उपस्थित हो जाती है । इस समय द्वैत निर्मूल हो जाता है ।

उस समय गगन गगन में विलीन हो जाता है। वह अनुभव वाणी का विषय नहीं रहता। उस समय भृकुटि की पिछली ओर ॐकार का भी प्रवेश नहीं हो पाता । अकेले प्राण को भी गगन में प्रवेश करने में संकट का सामना करना पड़ता है । तो वहाँ शब्द कैसे टिक सकते हैं ?

जब शब्द पीछे हट जाते हैं तब संकल्प की आयु भी समाप्त हो जाती है और वहाँ पर विचार की वायु का भी प्रवेश नहीं होता । जो उन्मनी अवस्था की शोभा है, तुर्यावस्था का तारुण्य है, अनादि और अननुमेय परम तत्त्व है, जो विश्व का मूल है, जो योगवृक्ष का फल है, जो आनंद का जीवन है, जो आकार की अन्तिम सीमा है, जो मोक्ष का एकांत है, जिस में आदि और अंत का विलय हो जाता है । वही परमात्मा का निज स्वरूप है, वही महासुख अनिर्वाच्य है । यही ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग है । इस अनुभूति के होने पर संपूर्ण विश्व का विलय हो जाता है ।

नैन सो नैन मिलि नैन निरखत रहै ।
मुख सो मुख मिलि बोल बोलिया
श्रवण सो श्रवण मिलि नाद सुनता रहै ।
शब्द सो शब्द मिलि शब्द बोलिया

यह पूरे पद सूक्ष्म और स्थूल का मिलन और उसका परिणाम दर्शाते हैं । जब कोई कार्य हम यंत्रवत करते हैं, तो उसका परिणाम भिन्न होता है और वही कार्य जाग्रत अवस्था में किया जाय, उसका परिणाम पूर्णरूपेण भिन्न देखने को मिलता है ।

यह सब कार्य में इन्द्रियाँ प्रवृत्त होने पर भी उसमें अहंता ममता जुड़ती नहीं है । यह हम नहीं कर रहे हैं । हमें कर्म का कर्ता नहीं बनना है. मिथ्या अहंकार जो जुड़ जाता है, उसे नहीं जोड़ना है । क्रिया होने पर भी यदि कर्ता भाव से उस से जुड़ते नहीं है, तो वह कर्म बंधन कारक नहीं होते हैं। जब कोई किसी को मारता है, तब पंच महाभूतों से बना यह शरीर लगता है कि मृत्यु के अधीन हुआ, परंतु महाभूत महाभूत में विलीन हो जाते हैं, जीवात्मा पुनः नया देह धारण करता है। इसलिये कुछ भी नाश नहीं होता। गीता में भगवान कृष्ण कहते है...***मूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते***...। परंतु जो मारने का भाव व्यक्ति के मन में हुआ, वही उस के बंधन का कारण बनता है ।

जब पाप-पुण्य व्यक्ति के चित्त में संग्रहीत होते हैं तब वे संचित कर्म बनते हैं, समय आने पर संचित कर्म परिणाम देते हैं। एक उदाहरण देखते हैं

किसी व्यक्ति ने एक सुंदर बगीचा लगाया था । दूर-दूर से सुंदर पेड़-पौधे लाकर बहुत परिश्रम किया था । बहुत लोग जब प्रशंसा करते, तब वह कहता, यह पौधा मैं वहाँ से लाया, वह पेड़ मैं वहाँ से लाया हूँ ... आदि-आदि ...। एकबार उस के बगीचे में एक गाय घुस गयी । उसने गाय को इतना मारा कि वह मर गयी । इस प्रकार उस व्यक्ति को गोहत्या लगी । उस व्यक्ति ने कहा, गाय को मैंने नहीं मारा, उसे इस हाथ ने मारा है । हाथ के देवता इन्द्र हैं । इसलिये गोहत्या इन्द्र को लगनी चाहिये । गोहत्या से इन्द्र परेशान हो गया । एक युक्ति विचारी और वेश बदलकर गया उस बगीचे में और बहुत प्रशंसा करने लगा -

" वाह ! क्या सुंदर बगीचा है । ऐसा बगीचा तो आज तक नहीं देखा । कौन होगा उसका मालिक ? कहाँ-कहाँ से ऐसे पेड़-पौधे एकत्रित किये होंगे ? "

वह व्यक्ति सामने आया, और बोला, " मै हूँ मालिक, इसको यहाँ से लाया, उसको वहाँ से लाया । बहुत परेशानी हुई । " आदि-आदि.....

इन्द्र ने कहा, " क्या? यह सब सचमुच तुमने लगाया या हाथ ने लगाया ?"

" नहीं-नहीं, मैंने ही लगाया, हाथ अकेला कैसे लगायेगा ? मैं इच्छा नहीं करता, तो हाथ कभी कुछ कर सकता है क्या ? "

तब इन्द्र प्रगट हो गया और बोला, " इसलिये गाय की हत्या भी हाथ ने नहीं, तुमने ही की है । गोहत्या तुम्हें ही लगेगी । "

इस प्रकार जब श्रेय लेना है, तब हम आगे आ जाते हैं और बुरे परिणाम को हम दूसरों पर थोपने का प्रयत्न करते हैं । जब ननिहाल से भरत पुनः अयोध्या आये, तब कैकेयी कहती हैं - मैंने सब बात सँवार कर रख दी थी, परंतु विधि ने कुछ बात बीच में बिगााड़ दी । *तात बात मै· सकल सँवारी। भइ मंथरा सहाय बिचारी ! कछुक काज बिधि बीच बिगाड़ी।* जो कुछ अच्छा हुआ, वह तो मैंने किया, परंतु विधि ने कुछ बात बिगाड़ दी । इस प्रकार अहंकार को रखकर कोई भी कर्म किया जाए, वह सभी शुभ-अशुभ कर्म के फल के भोक्ता जीव को बनना पड़ता है ।

नैन सो नैंन मिलि – स्थूल नेत्र से सूक्ष्म नेत्र मिलता है । स्थूल नेत्र के बाहरी गोलक के पीछे यदि सूक्ष्म नेत्र नहीं हैं, तो देखने पर भी कुछ दिखता नहीं है । स्थूल इन्द्रियों से मिल के सूक्ष्म इन्द्रियों से मिलती हैं । स्थूल दृष्टि और सूक्ष्म दृष्टि अर्थात् दिव्य दृष्टि मिलकर दोनों एक हो जाते हैं । स्थूल नेत्रों से साधक दिव्य घटनाओं का साक्षी बन सकता है । दिव्यलोक को देख सकता है । जब स्थूल नेत्र से सूक्ष्म नेत्र मिल जाते हैं, तो सूक्ष्म नेत्र से वह स्वयं अपने नेत्रों को भी देख सकता है ।

मुख सो मुख मिलि....जब साधक को ज्ञान होता है, स्थूल और सूक्ष्म का मिलन होता है, तभी वह मुख द्वारा बोल बोल सकता है ।

श्रवण सो श्रवण मिलि....जब स्थूल कानों की अतीन्द्रिय शक्तियाँ जाग्रत होती हैं, तभी साधक को नाद सुनाई देते हैं ।

शब्द सो शब्द मिली.....शब्दों के अर्थ में जो सूक्ष्म रहस्य छिपा होता है, वह योगी के सामने सब खुल जाता है। शब्द का रहस्य उद्‌घाटित हो जाता है।

नृत्य सो नृत्य मिलि नृत्य लागी रहै ।
सुरति सो सुरति मिलि सुरति आवै
धाम सो धाम मिलि धाम जागृत रहै ।
राग सो राग मिलि राग गावै
ज्ञान सो ज्ञान मिलि ज्ञान लागा रहै ।
ध्यान सो ध्यान मिलि ध्यान ध्यावै

नृत्य सो नृत्य मिलि...... नृत्य वह भंगिमा है, जो कर्ता के भाव और भौतिक शरीर की पूर्ण अभिव्यक्ति का प्रदर्शन करता है । सूक्ष्म और स्थूल की साथ-साथ अभिव्यक्ति है । नृत्य वह कला है, जो भौतिकता को सूक्ष्म से

जोड़कर स्वयं की आनंदमय अवस्था को प्रगट करता है। इसलिये नृत्य कभी-कभी महायोग की अवस्था में भी किया जाता है । भगवान श्रीकृष्ण की रासलीला एक महायोगी की परिपूर्ण अवस्था थी, जो गोपियों के आनंद के लिये की गयी थी। भगवान शंकर का तांडव नृत्य भी निजानंद का ही प्रतीक रूप है, जो कभी तो सर्जन के लिये और कभी विनाश के लिये किया गया है ।

नर्तक नृत्य के साथ तदाकार हो जाता है, तो उसे बोध नहीं रहता कि मैं नृत्यकार हूँ। तन्मयता से किया गया नृत्य स्थूल-सूक्ष्म का भेद मिटाकर अलौकिक नृत्य प्रगट करता है और वह नृत्य चराचर सृष्टि को नर्तन में मिला देता है ।

सुरति सो सुरति मिलि.....सुरति शब्द का प्रयोग स्वामी जी स्मृति के लिये करते हैं । स्व-स्वरूप की स्मृति साधक में आ जाती है, उस स्थिति का वर्णन स्वामी जी करते हैं। स्थूलता से किये गये जप जब सूक्ष्मतम कक्षा पर पहुँचकर रोम-रोम ररंकार को जाग्रत करता है, तब साधक को सुरति आवै अर्थात् स्वत्व का बोध हो जाता है।

धाम सो धाम मिलि....जिस धाम में हम रह रहे हैं, वह एक धर्मशाला है, एक सराय है । आज हम हैं, कल कोई आयेगा, यह तो हम जिस ग्रह में निवास करते हैं, उसकी बात है । परंतु जीव का घर तो एक ही है...*यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम* । वह परमात्मा का परमधाम है, जहाँ जाकर जीव को लौटना नहीं पड़ता, वही धाम सच्चा है ।

जब जीव में यह समझ आती है, कि शरीर भी उसका एक धाम है, निवास स्थान है, तब धाम जाग्रत हो जाता है अर्थात् वह अपने-आपको शरीर नहीं अपितु एक जीवात्मा मान लेता है । परमात्मा का अभिन्न अंश होने का वह जब अनुभव करता है, तभी धाम जाग्रत माना जाता है ।

राग सो राग मिलि ....राग और मोह के द्वारा जो आसक्ति है, वह है राग...उनके पीछे होता है अनुराग.... जो परमात्मा से होता है ।

एक राग है संगीत का राग । जब राग जाग्रत अवस्था में गाया जाता है, तब राग जाग्रत होता है । मीराबाई जी, तुलसीदास जी, कबीर जी, नरसिंह मेहता आदि ने जो राग गाये, उस राग की बात स्वामी जी यहाँ करते हैं। स्वामी जी ने इस राग की गंगा को भारतभूमि पर अवतरित किया था, जिसके द्वारा राग गाकर परमात्मा के परम तत्त्व को वे लोग पा सके ।

ज्ञान सो ज्ञान मिलि...जब साधक साधना में बैठता है, तब वायुमंडल में ज्ञान की तरंगें स्वत: उसमें ज्ञान-गंगा प्रवाहित करती हैं । बाहरी ज्ञान का समर्थन जब आंतरिक ज्ञान से होता है, जब अनुभव से होता है, तभी सच्चा ज्ञान जाग्रत होता है ।

ध्यान सो ध्यान मिलि...ध्यान करनेवाले का ध्यान जब ईश्वर कृपा से परिपूर्ण होता है, तभी सच्चा ध्यान जाग्रत होता है । जब मानव यत्न और ईश्वर कृपा का मिलन होता है, तभी कार्य सफल होता है, वह चाहे ध्यान हो, चाहे राग हो, चाहे सुरति हो, या कोई अन्य कार्य हो ।

इन सभी बातों से स्वामीजी यह बात समझाना चाहते हैं, कि कोई भी कार्य अपनी परिपूर्ण अवस्था में ईश्वरप्राप्ति करा देता है । परंतु साधक को चाहिये कि वह शरणागतिपूर्वक, समग्रता से और अहंता ममता से रहित होकर वह कर्म करे ।

जाप सो जाप मिलि जाप अजपा जपै ।
सोई दम लागी रहै भेद पावै
चित्त सो चित्त मिलि चित्त चेतन हुआ
उन्मनि दृष्टि सो भाव देखे ।

जाप सो जाप.... स्थूल जप से जब सूक्ष्म का मिलन होता है, तब अजपा जाप कहा जाता है । अजपा जाप उसे कहा जाता है, जो सहज हो रहा है । न तो उसे श्वास से कोई संबंध है, न ही किसी अन्य से । श्वास के आने-जाने के साथ जो जप हो रहा है उसे कुछ लोग अजपा कहते हैं, परंतु चित्तवृत्ति जब शांत हो जाती है, तब श्वास का आना-जाना भी नहीं पता चलता है । श्वास भी अति सूक्ष्म हो जाता है । वह अजपा नहीं है । परंतु अहंकार शून्य स्थिति में जो जप हो रहा है, कर्तापन-रहित जो जप होता है, वह वास्तव में अजपा है । स्वामी जी उस स्थिति को जाप सो जाप मिलि.... कहते हुए निर्देश करते हैं –

नाभि से जो ॐकार प्रगट होता है, उसे कुछ लोग अजपा कहते हैं। परंतु नाभि का बीजमंत्र भी " रं " है। नाभि का अनहद नाद या अनाहत नाद अलग है । उसे भी अजपा नहीं कहा जाता ।

प्रत्येक चक्र की पंखुड़ियों के संकुचन विकिरण से जो ध्वनि पैदा होती है, वह उसके बीजाक्षर हैं । जाप करते-करते उस स्थिति पर पहुँचकर उस भेद को साधक जान लेता है। यह भी अजपा नहीं है ।

चित्त सो......जड़ चित्त चेतन आत्मा से मिलकर चिन्मय हो जाता है । सांख्य में कहा गया है कि प्रकृति का महत् तत्त्व से चित्त का निर्माण हुआ है ।

उन्मनि का अर्थ शब्दार्थ से मन के परे होता है। उन्मनी की अवस्था ध्यान के समय प्रगट होती है । मन कार्य तो करता है, परन्तु विरोधी विचारों और उनके विश्लेषण जैसी बाधाओं से रहित । उन्मनि मुद्रा के विषय में योगीश्वर गोरक्षनाथ कहते हैं कि तारों को ज्योति में लगाकर भौंहों को कुछ ऊर्ध्व करना चाहिये अर्थात् आँखों की पुतलियों को ज्योति में लगाकर भौंहों को ऊपर चढा लेना चाहिये । स्थिर आसन पर बैठकर यह साधना करने से मन सुस्थिर हो जाता है और वायु, वाणी, देह एवं दृष्टि में स्थैर्य आ जाता है ।

गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं - ***राजयोगः स कथित स एव मुनिपुंगव । राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः ।***

उन्मनी मुद्रा से प्राप्य योग की अमनस्क योग ही राजयोग है । मन का अन्तर्मुखी होना ही उन्मनी मुद्रा है । उन्मनी मुद्रा में उन्मन ध्यान करने से मन शून्य में प्रविष्ट हो जाता है । यही मन शून्य लय योग है ।

द्वार सो द्वार मिलि शीश सो शीश मिलि
जीव सो जीव मिलि ब्रह्म सो ब्रह्म मिलि भेद भेदिया ।

द्वार सो द्वार मिलि**.....**यह जो शरीर है वह नव द्वारवाला है । शरीर के नवों द्वार से गंदगी निकला करती है । उसमें एक दशम रंध्र भी है, जो जीव को परमात्मा तक पहुँचाता है । वह सहस्रार में स्थित करता है । यहाँ तक जो भी भेद था, वह सब मिट गया है ।

जीव परमात्मस्वरूप होकर भी जीव ही रहता है । जीव के संकल्प में सृष्टि नहीं है । ब्रह्मसूत्र में स्पष्ट कहा गया है, कि जिनके कारण सृष्टि का सर्जन, पालन और परावर्तन होता है, वे परमात्मा हैं । जीव में यह सामर्थ्य नहीं है । बिन्दु भी सिन्धु में मिलकर सिन्धु ही हो जाता है । वैसे बिन्दु भी एक सिन्धु ही है, और सिन्धु भी एक बिन्दु है । तत्त्वतः कोई भेद नहीं है । परंतु जीव और ब्रह्म में यह भेद तो रहेगा ही कि जीव कितना चाहे, वह सृष्टि का पालन, परावर्तन नहीं कर सकता । यह शक्ति केवल परमात्मा में ही है । जीव अपनत्व को मिटाकर परमात्मा में मिल सकता है ।

भेद भेदिया की बात को थोड़ा समझने की जरूरत है । *जीव की होई ईश समान....* जीव और शिव तत्त्वतः एक ही हैं । परतु जीव की अपनी मर्यादा है । समुद्र की एक बूँद और समुद्र, दोनों के जल में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है । रासायनिक विभाजन से भी दोनों एक ही सिद्ध होते हैं । परंतु बड़े-बड़े जहाज समुद्र में तैर सकते हैं, परंतु बूँद में नहीं । यह भेद को तत्त्वतः योगी समझ लेता है ।

मिटि गया घोर अँधियार तिहुँलोक से ।
श्वेत स्फटिकमणि हीरा भेदिया ।

जब जीव का मिलन शिव से हो जाता है, जीवात्मा परमात्मा से मिल जाते हैं, तो तीनों लोक से अज्ञानजनित अँधियारा मिट जाता है । जीव को बाद में अज्ञानजनित संसार में यत्र-तत्र भटकना नहीं पड़ता । *तमसो मा ज्योतिर्गमय....* जीव नहीं चाहता अँधकार में रहना, उसे ज्योति की चाहना है । परमात्मा की दिव्य ज्योति सर्वत्र प्रकाशमान दृष्टिगोचर हो रही है, परंतु अपने अज्ञान के आवरण के नीचे ढँका हुआ जीव उसे देख नहीं सकता, उसे परख नहीं सकता। परमात्मा के सम्मुख होने से जीवों का अज्ञानजनित अँधकार मिट जाता है। भ्राँत धारणा, मोह, माया के आश्रित जीव नहीं रहता ।

स्फटिकमणि जिस प्रकार पारदर्शी होता है, उसी प्रकार साधक को स्पष्ट आर-पार दिखाई देता है कि सारी सृष्टि परमात्मा का लीलाविलास है । श्वेत स्फटिकमणि का हीरा भेदन हो जाता है । ध्यान में बैठने पर अलग-अलग प्रकाश के दर्शन होते हैं । वैसे ही स्फटिकमणि सूर्य प्रकाश को भिन्न-भिन्न रंगों में दिखाता है ।

*हीरा भेदिया...*वैसे तो हीरा शुद्ध अहंकार है, ज्ञान है, परंतु यहाँ हीरे का भेदन किया है , अर्थात् अहंकार का नाश किया है । कही-कहीं हीरा अहंकार का सूचक भी है । अहंकार तो तिल जैसा है, साहिब मिल गये तिल ओले...। अहंकार है तो छोटा, परंतु इतना मजबूत है, उस अहंकार को माया ने मजबूत किया है । परमात्मा से विमुख जीव को माया को पार करना अत्यंत दुष्कर है । कहीं-कहीं अहंकार को हीरे की संज्ञा दी जाती है । जिस प्रकार हीरे का छेदन-भेदन सरलता से नहीं होता, उसी प्रकार अहंकार को भेदना भी अत्यंत दुष्कर है । उस हीरेरूपी अहंकार का साधक ने साधना द्वारा भेदन किया ।

कुण्डलिनी जाग्रत होने पर शरीर अत्यंत तेजस्वी दृष्टिगोचर हो जाता है । शरीर के अवयवों की कान्ति ऐसी प्रतीत होती है, जैसे स्फटिक से बनी है, या रत्नरूपी बीज में अंकुर प्रस्फुटित हो उठे हों ।

उघरन्त नैन बाजन्त बैन

चन्द्र सूर्य दोउ रहत थीरा ।

अंतर्चक्षु, जिससे परमात्मा देखा जाता है, वे दिव्य चक्षु खुल जाते हैं । भगवान श्रीकृष्ण ने जिस प्रकार अर्जुन को दिव्य चक्षु देकर उनके विराट् स्वरूप का दर्शन कराया था, उसी प्रकार के दिव्य चक्षु खुलते हैं ।

बाजन्त बैन अर्थात् दिव्य नाद सुनाई देते हैं । अब तक जितनी भी ध्वनि हमने सुनी है, जितने भी नाद सुने हैं, वे सब लौकिक हैं । परंतु दिव्य चक्षु प्राप्त करने के बाद, दिव्य श्रवण प्राप्त करने के बाद, जीव को दिव्य नाद सुनाई देते हैं । दिव्य अर्थात् अलौकिक, जो इस लोक में नहीं हैं । जो कभी भी नष्ट न होनेवाले हैं, वे नाद सुनाई देते हैं ।

***चंद्र सूर्य दोउ*......**चन्द्र स्वर और सूर्य स्वर दोनों स्थिर हो जाते हैं । अर्थात् इड़ा और पिंगला नाड़ी स्थिर हो जाती हैं और प्राण सुषुम्ना में स्थित हो जाता है । यही ध्यान की उच्च स्थिति है । उसे ध्यान के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता, अपितु सहज ध्यान हो जाता है । साधारणतः चन्द्र या सूर्य से, बायीं या दायीं नाड़ी से श्वास जाता है । इड़ा और पिंगला नाड़ी मेरुदंड के अंदर सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं । परंतु साधक का उस अवस्था पर श्वास स्थिर हो जाता है, और प्राण सुषुम्ना में स्थिर होता है । दोनों स्वर समान होकर प्राण मध्य में सुषुम्ना में प्राण वास करने पर साधक की कुण्डलिनी जाग जाती है ।

कुण्डलिनी शक्ति कुंडलाकार रूप में मूलाधार में सुषुप्त अवस्था में पड़ी है । जब साधना के द्वारा उसे जगाया जाय, प्राण शक्ति चंद्र या सूर्य में न जाकर सुषुम्ना में वास करे, तब कुण्डलिनी जाग्रत होकर सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर चढ़ती है और मार्ग में अवस्थित भिन्न-भिन्न चक्रों को पार करती हुई, भेदन करती हुई, जाग्रत करती हुई सहस्रार तक पहुँच जाती है ।

अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र में स्वामी जी ने साधना के विषय में अलग-अलग बातें अलग-अलग साधकों के विषय में बतायी हैं । यह जरूरी नहीं है कि प्रत्येक साधक को यही अनुभव हो । जो सिद्ध है, जिसने लक्ष्य की प्राप्ति कर ली है, उसे पता है कि सभी मार्ग उस परम सत्य की ओर ही पहुँचते

हैं। जिस प्रकार पर्वत की चोटी पर पहुँचे व्यक्ति को पता चल जाता है कि सभी मार्ग एक या दूसरी जगह से पर्वत की चोटी पर ही पहुँच रहे हैं। यही बात अलग-अलग राह पर चलते, चोटी की ओर बढ़ते पथिक को पता नहीं चलती है, कि भिन्न-भिन्न राह उस चोटी की ओर ही जा रही हैं। उसी प्रकार यहाँ भी स्वामी जी भिन्न-भिन्न साधना पथ का और उस पर चलते पथिक के अनुभव का वर्णन करते हैं। इसलिये यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक को सभी अनुभव हों।

जैसे.... श्रवण सुनत गुरु.... किसी को गुरु के शब्द में इतना विश्वास होता है कि उसको गुरु की कृपा से ही परिणाम घटित हो जाता है। आदिशक्ति जगदंबा के मार्ग से ही परिपूर्ण ब्रह्म तक पहुँच जाते हैं। वहाँ पहुँचने के बाद अन्य-अन्य मार्ग पर विचरण करके अनुभव कर सकते हैं। जिस प्रकार श्री रामकृष्ण परमहंस ने अलग-अलग प्रकार की साधना करके अलग-अलग अनुभव किये थे। जिस प्रकार चोटी पर पहुँचा हुआ व्यक्ति रोज परिभ्रमण के लिये अलग-अलग रास्ते पर घूमता है, वैसे ही पूर्ण कक्षा पर पहुँचे हुए सिद्ध जानते हैं कि अलग-अलग प्रकार की साधना उस एक ही परमात्मा तक पहुँचाती हैं। वे किसी का खंडन या मंडन नहीं करते।

जहाँ कहीं महापुरुषों ने खंडन किया है, वह साधक को एक ही मार्ग पर डटे रहने के लिये प्रोत्साहित करने हेतु किया गया है। वो अंदर से जानते हैं, कि दूसरा मार्ग भी परमात्मा की ओर ही जायेगा, परंतु साधक की निष्ठा बार-बार बदलती न रहे, वह मार्ग में ही भटकता न रहे इसलिये सिद्ध पुरुष साधक को बार-बार एक ही मार्ग पर चलने का अनुरोध करते हैं, आदेश करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि जिसे समझ नहीं है, वे भिन्न-भिन्न मतों से भ्रमित होकर जीवन और समय, दोनों को नष्ट कर सकते हैं।

जिस प्रकार जल को प्राप्त करने हेतु एक ही स्थान पर गहरा कुआँ खोदना पड़ता है, वैसे ही एक ही साधना पथ पर डटे रहने से ही साधक का कल्याण हो सकता है। अलग-अलग जगह पर थोड़ा-थोड़ा खोदने से जल की प्राप्ति संभव ही नहीं है, वैसे ही साधना पथ बदलते रहने से साधक का कल्याण नहीं हो सकता।

महापुरुष जानते हैं कि जो अज्ञान में फँसा जीव है, वो परमात्मा की प्रबल माया के अधीन है। जो परमात्मा की प्रेरणा से उनके संपर्क में आते हैं, उनको वे उपदेश करते हैं।

हाँक-हुंकार हनुमान ललकार गाजत रहैं,
पकरि बाँधिया बावन वीरा ।।

हनुमान का शाब्दिक अर्थ होता है जिसने अपने मान का हनन कर लिया है, जो निरभिमानी है अथवा मान के आग्रही नहीं हैं । अमानी हनुमान जी यदि हाँक-हुंकार करने लगें, तो चारों युग में किसी की भी ताकत उनके सामने खड़ी नहीं रह सकती और हनुमान जी की हुंकार से तो जितने भी आसुरी तत्त्व हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। तमोगुणी रजनीचर भाग जाते हैं । नरक के वासी, अंधकार के प्रेमी (न अर्क, जहाँ सूर्य नहीं है) नरकगामी जीव हनुमान जी की हुंकार सुनते ही दूर हो जाते हैं, पलायमान हो जाते हैं। हनुमान जी तो ***चारों युग परताप तुम्हारा....*** चारों युग में थे, वे साधक की रक्षा करते हैं ।

हनुमान जी सदैव रामभक्तों के कष्टों को दूर करते हैं । जिसे परमात्मा स्वीकार करते हैं, जो परमात्मा से जुड़ जाए वही भक्त है, उनकी रक्षा हनुमान जी महाराज सदैव करते हैं । तमोगुणी, आसुरी तत्त्व को वे साधक से दूर करते हैं ।

त्रिभुवन गुरु भगवान शंकर के रुद्रावतार आंजनेय श्री हनुमान जी हैं । परम गुरु शंकररूपी हनुमान जी की हाँक सुनकर सब रजनीचर, रात्रि में विचरनेवाले, अज्ञान में आनंद लेनेवाले भाग जाते हैं । आत्मा तो शुद्ध-बुद्ध परमात्मा का अंश है । परंतु जिस प्रकार शुद्ध वायु सड़े-गले स्थान से बहने पर दुर्गन्धवाली हो जाती है, वैसे ही जीवात्मा पर कुसंग का असर होता है । कुसंग के असर से जीव में आसुरी तत्त्व प्रगट हो जाते हैं। हनुमान जी महाराज सदैव ललकार के गर्जते रहते हैं, जिससे आसुरी ताकतें सर नहीं उठा सकती हैं ।

बावन वीरा आद्यशक्ति माता जी के आश्रित रहनेवाली शक्तियाँ हैं । वे आसुरी तत्त्वों को नष्ट करने के लिये अपने परिकरों को लेकर आती हैं। जब साधक उस कक्षा पर पहुँच जाता है, जहाँ माया का क्षेत्र है ही नहीं ।

माया तीन प्रकार की है - सात्विक, राजसिक और तामसिक । साधक जब माया के साम्राज्य से ऊपर उठता है, तो तीनों प्रकार की माया विलीन हो जाती हैं। परमात्मा की माया ने गुण और दोष उत्पन्न किये हैं, अच्छा और बुरा उत्पन्न किया है। जब माया तिरोहित हो जाती है, तो शुद्ध सच्चिदानंद घन परमात्मा ही रह जाते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत में कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना और पांडवों की सात अक्षौहिणी सेना का विनाश कर दिया था । इतना ही नहीं, जिस कुल में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं जन्म लिया, उस कुल के छप्पन करोड़ यदुवंशियों का उन्होंने नाश करा दिया क्योंकि वे युग-निर्माण में बाधक बन सकते थे। इसलिये माया के अधीन जो बावन वीर हैं, वो माया के तिरोहित होने पर बाधक बन सकते हैं, जिसे स्वामी जी कहते हैं, उनको भी पकड़कर बाँध लिया गया है अर्थात् उनको वश में कर लिया ।

गगन उलटि चलै, भानु पश्चिम उवै
निरखिया ब्रह्म प्रकाश किया ।

साधना में जो आगे बढ़ते हैं, ऊँची कक्षा पाते हैं, उनको ध्यान में लगता है, कि सूर्य पश्चिम में उगता है । आज्ञा चक्र में ध्यान करने को यदि हम पूरब मान लें, तो सूर्य पीछे की ओर उदित होता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है । यह अनुभव सिद्ध बात है, जिसे साधक स्वयं अनुभव कर सकता है । गगन् उलटा हो गया है, सूर्य पश्चिम में उदित हो रहा है, और वहाँ मात्र ब्रह्म का ही प्रकाश है, उसे साधक देख सकता है, निरख सकता है ।

कुण्डलिनी मेरुदंड के शीर्ष भाग पर दो मार्गों में विभाजित होती है । एक पूर्व मार्ग है, दूसरा पश्चिम मार्ग है । शक्ति जाग्रत होने पर पश्चिम मार्ग से वह सहस्रार में पहुँचती है, तब वहाँ सूर्य जैसा ही प्रखर प्रकाश देदीप्यमान होता हुआ साधक स्पष्ट देख सकता है जिससे उसे लगता है कि भानु पश्चिम में उदित हुआ है ।

यहाँ निरखिया शब्द दीप-देहली-न्याय से उपयोग किया गया है । जिस प्रकार देहली पर रखा गया दीपक अंदर-बाहर, दोनों तरफ प्रकाश करता है, उसी तरह एक ही शब्द दोनों तरफ उपयोग होता है । भानु पश्चिम उवै, और ब्रह्म प्रकाश किया, दोनों के साथ निरखिया शब्द रखा गया है । जो कहता है कि साधक पश्चिम में उदित होते सूर्य को भी देखता है, और ब्रह्म प्रकाश को भी देखता है ।

उदित सूर्य के प्रकाश को देखकर साधक ब्रह्म के शीतल प्रकाश का अनुभव करता है ।

आत्मा माहि दीदार दर्शता रहै
अजर अमर हवै आप जिया ।

दीदार अर्थात् दर्शन । आत्मा का शाब्दिक अर्थ है स्वयं । साधक स्वयं का दर्शन कर लेता है । अपने अंदर का सब दृश्य दिखाई दे रहा है । साधक को शरीर की प्रत्येक क्रियाओं का ज्ञान हो जाता है । आधुनिक मेडिकल विज्ञानियों की तरह मृत शरीर को चीर-फाड़ करने पर जीवित शरीर की गतिविधियों को संपूर्णतः नहीं नापा जा सकता । परंतु हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियों ने ध्यान में शरीर की प्रत्येक गतिविधि का दर्शन किया है । वह चाहे रक्ताभिसरण हो, श्वासोच्छवास की क्रिया हो, या कोई अन्य क्रिया हो । इसलिये आयुर्वेद का ज्ञान शाश्वत है, जब कि ऐलोपेथी का ज्ञान नित्य परिवर्तनशील है, क्योंकि वह बाहरी और मृत ज्ञान है और असर देखकर बार-बार बदलना पड़ता है ।

कुण्डलिनी जाग्रत होने पर साधक अपने-आपको देख लेता है । उसके बाद अजर-अमर हो जाता है । जरा-मृत्यु को दूर कर देता है । वृद्धावस्था साधक का स्पर्श नहीं कर सकती । स्वामी जी उक्ति पुनः दोहरायी जाती है – *पद्म कर आसन, चित्त कर थिर । योगी मन में धर ले धीर, नित उठ बालक होई शरीर ॥ निद्रा देय काल न खाय* ...। शारीरिक और मानसिक, दोनों रूप से साधक बालकवत् हो जाता है । उसका मन निर्दोष हो जाता है, राग, द्वेष, घृणा आदि से भी बालक की तरह दूर रहता है ।

जाग्रत अवस्था में श्वास तेज चलती है, निद्रा में श्वास धीमी हो जाती है, सूक्ष्म हो जाती है । ध्यान में और भी सूक्ष्म हो जाती है । आलस, निद्रा और जम्हाई, यह सब *हैं काल के भाई* – यह सब तमोगुण के कारण हो रहा है, ये सब आयु को घटाने वाले है । परंतु जो योग निद्रा में होते हैं, उनको काल भी नहीं खाता । साधक को काल भी नहीं छू सकता । वह काल के प्रभाव से परे हो जाता है ।

वह जीव – जिया तब अजर अमर हो जाता है । यह आशीर्वाद जगज्जननी जगदंबा देती हैं – *अजर अमर गुणनिधि सुत होहू । करहु बहुत रघुनायक छोहू ॥* हमारे अंदर जो चिति शक्ति है, कुण्डलिनी शक्ति है, वही आद्य शक्ति है । वह शक्ति जब जीव को माया के बंधन से छुड़ाकर परमात्मा के परम तेजोमय साम्राज्य में प्रवेश करा कर यह आशीर्वाद देती हैं कि *करहु बहुत रघुनायक छोहू* परमात्मा के ही हो जाओ । आदिशक्ति के आशीर्वाद से जीव बहुत सहजता से परमात्मा को प्राप्त कर सकता है । वह वृद्धावस्था और मृत्यु को पार कर जाता है ।

साधक, जो आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है, परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है, उसके लिये काल की गति रुक जाती है । परंतु महापुरुष स्वयं स्वेच्छा से प्रारब्ध भोग भोगना स्वीकार कर लेते हैं । आदिगुरु शंकराचार्य मात्र बत्तीस वर्ष की आयु भोगकर मृत्यु के अधीन हो गये । जब कि वे भगवान शंकर के ही अवतार कहे जाते हैं । वे चाहते तो लम्बी आयु भोग सकते थे, परंतु शरीर की जितनी आयु निश्चित की गयी, उस विधान को बदलना नहीं चाहते थे । भगवान श्रीराम ने भी काल-पुरुष की प्रार्थना तुरंत स्वीकार कर ली थी । योगियों के अधीन काल हो जाता है, परंतु योगी प्रकृति के अधीन हो जाते हैं ।

अंतरिक्ष में एक दिव्य सांतनिक लोक है, जहाँ सब सिद्ध संत का निवास होता है । वहाँ से किसी महापुरुष को किसी विशेष कार्य देकर पृथ्वी-लोक में भेजा जाता है। उस कार्य को पूर्ण करके वे स्वयं नहीं चाहते पृथ्वी-लोक में अधिक रहना, इसलिये वे प्रस्थान करना ही उचित समझते हैं । यदि वे चाहते हैं कि शरीर को लम्बे समय तक रखना है, तो वे रख सकते हैं, जिस प्रकार भगवान श्री स्वामी रामानंदाचार्य लंबे समय तक पृथ्वी-लोक में रहे थे ।

श्वेत द्वीप में किंपुरुष खंड में श्री हनुमान जी महाराज का निवास होता है । वह अजर-अमर हैं । चांगदेव जी के विषय में कहा जाता है, कि उन्होंने मृत्यु को चौदह बार वापिस भेज दिया था, और चौदह सौ वर्ष का आयुष्य भोगा था । यह योग की एक उच्चतम स्थिति है ।

सामान्य शरीर के नव द्वार से मल विसर्जन होने पर दुर्गन्ध आती है, परंतु योगी महापुरुष के दिव्य शरीर से सुगंध आती है । इसलिये वे लंबे समय तक दिव्य शरीर धारण कर लेते हैं । कोई महापुरुष किसी अन्य उपयुक्त शरीर मिलने पर उसमें भी प्रवेश कर सकते हैं । इस प्रकार योगी की इच्छा में जरावस्था और मृत्यु रहते हैं, इसलिये वे अजर-अमर होते हैं ।

किणी किंकणी रुणी झुनझुनी सिंह धुनि
नाद नादं सुषुम्ना के साज साजिया ।

जिस प्रकार संगीत का आनंद विविध वाद्ययंत्रों से अधिक आता है, उसी प्रकार सुषुम्ना नाड़ी के पास भी बहुत प्रकार के वाद्ययंत्र होते हैं, जिससे वह अलग-अलग प्रकार के नाद के साज सजाती है । उसके पास सात प्रकार की ध्वनियाँ हैं । साधक उसका आनंद लेता है । किंकणी, रुणीझुनी,

सिंह धुनि आदि-आदि...। नाद श्रवण में ॐकार का नाद, बंसी वादन, नूपुर की ध्वनि, किणी किंकिणी, मयूर की ध्वनि (टहुकार), शंखनाद, आदि नाद सुनाई देते हैं ।

यह नाद की श्रृंखला है, शंख ध्वनि तक चलता है और अंत में ॐकार में परिवर्तित हो जाता है । सिंह धुनि... जिस प्रकार शेर दहाड़ता है, दशम रंध्र में कुण्डलिनी शक्ति जब ऊर्ध्वगमन करती है, तब बहुत भयंकर आवाज करती है ।

अव्यक्त परमेश्वर शिव और शक्ति के मिलित स्वरूप में आद्या देवी भगवती का प्राकट्य हुआ, जो त्रिपुरसुंदरी हैं । इसी शक्ति से नाद और फिर नाद से बिन्दु का उद्‌भव हुआ । इस प्रकार शक्ति अपने को तीन रूप में अभिव्यक्त करती है - बिन्दु, नाद और बीज ।

शरीर में अनाहत ध्वनि सुनाई देती है । यह नाद की प्रारंभिक अवस्था है । योगी का शरीर दिव्य गंध और आरोग्य से परिपूर्ण बनता है । नाद की दूसरी अवस्था में प्राणवायु मध्य नाड़ी में प्रवेश करता है । यह नाद की घटावस्था है। प्राण अपने साथ अपान, नाद और बिन्दु को मिलाकर कण्ठ देश में स्थित मध्य चक्र में जा पहुँचता है। उससे योगी रूप-लावण्यमय देह धारण कर देवताओं के समान बन जाता है ।

बाद में कण्ठ में स्थित विष्णुग्रंथि का भेदन होने पर कण्ठ में परमानंद की प्राप्ति के सूचक भेरी का शब्द सुनाई देता है । तीसरी अवस्था में मर्दल की विषेश ध्वनि सुनाई देती है । उस समय भौंहों के मध्य आकाश में प्राणवायु जा पहुँचता है और साधक अणिमादि अष्टसिद्धियों को प्राप्त कर लेता है । आज्ञा चक्र में स्थित रुद्रनाड़ी का भेदन कर प्राण रुद्रधाम में स्थित हो जाता है । चौथी अवस्था निष्पत्ति की अवस्था में प्राण ब्रह्मरंध्र में पहुँच जाता है और वेणु का नाद सुनाई देता है ।

इस प्रकार साधक को अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं । अभ्यास बढ़ने पर सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्द सुनने में आ जाते हैं । प्रारंभ में समुद्र, फिर मेघ, फिर भेरी, झर्झरी के नाद, मध्य में मर्दल, शंख तथा घण्टा के शब्द सुने जाते हैं । अन्त में किंकणी, वंशी, वीणा और भौंरों के गुँजन आदि अनेक प्रकार के नाद शरीर में सुनाई देते हैं ।

चाचरी, खेचरी, भूचरी, अगोचरी, उन्मनी
पाञ्च मुद्रा साधन से सिद्धि साधे साधु राजा ।

राजयोग से जो साधु पाँच मुद्राओं का अभ्यास करता है, अनेक सिद्धियों का स्वामी होता है। चाचरी मुद्रा, खेचरी मुद्रा, भूचरी मुद्रा, अगोचरी मुद्रा और उन्मनी मुद्रा । हठयोग और राजयोग में मुद्राओं का अभ्यास अत्यंत आवश्यक है ।

जिह्वा को विपरीत करके कपालकुहर में प्रविष्ट करते हुए भौंहों के मध्य में दृष्टि रखने से खेचरी मुद्रा बनती है । मानव शरीर में जो रीढ़ की हड्डी है, उसमें इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी बहती हैं । बाँयी-दाँयी नाड़ियों में स्थित प्राणवायु जिस स्थान पर जाती है, वहीं तालु में खेचरी मुद्रा स्थित होती है । गगनगुफा या ब्रह्मरन्ध्र में ज्योति-ध्यान " खेचरी " मुद्रा है ।

त्रिकुटि में दामिनी जैसी ज्योति पर मन का केन्द्रीयकरण या आज्ञा चक्र में मन को स्थिर करना " चाचरी " मुद्रा है। मस्तिक में ज्योति का दर्शन करना या नासिकाग्र के चार अँगुल दूर आकाश में मन को स्थिर करना " भूचरी " मुद्रा है। नासिका के अग्रभाग पर मन को दृढ़तापूर्वक स्थिर करने को " अगोचरी " मुद्रा कहते हैं ।

शून्य में ध्यान का केन्द्रीयकरण " उन्मनि " मुद्रा है । सहस्रार की कर्णिकाओं के मध्य में सत्रहवीं कला है, जो निराग या निर्लिप्त है। उसका नाम उन्मनि है । यह भव-बन्धनों और पाश से मुक्त करती है । उन्मनि अवस्था तत्त्व है, जिसका तात्पर्य है कि मानस ने जगत के पदार्थों और विषयों के साथ जो राग और मोह के बन्धन बना लिये थे, उनका पूर्णरूप से उच्छेदन ।

हठयोग और राजयोग मे थोड़ा-सा अंतर है । हठयोग में प्राणजय द्वारा मनोजय का मार्ग है । प्राणमय कोश द्वारा मनोमय कोश को पहुँचने का मार्ग है । परंतु राजयोग मनोजय द्वारा प्राणजय का मार्ग है । यम-नियम और ईश्वरप्रणिधान का महत्त्व वहाँ विशेष है । राजयोग अर्थात् अष्टांग पतंजलि योग । कुछ भिन्नता से सांख्य दर्शन के तत्त्वज्ञान को मानता है, परंतु हठयोग कुछ-कुछ अद्वैत वेदांत को स्वीकार करते हैं ।

राजयोग, ध्यानयोग पथ के जो साधक हैं, राज का त्याग करके राजा वैरागी बनते हैं, इसलिये वैरागी राजयोग करते हैं । मुद्राओं के अभ्यास से अन्नमय कोश की शुद्धि होती है। बाद में प्राणमय कोश भी शुद्ध होता है । योग परमात्मा से जोड़ने का कार्य करता है ।

जब जीव को बोध होता है सारी सृष्टि परमात्मामय है, जीव का जीवत्व परमात्मा में स्थित है । जितने भी चर-अचर परमात्मा के संकल्प में हैं उनके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं ।

गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि कर्मकांडियों से अथवा तपस्वियों से योग अधिक अच्छा है, क्योंकि योग जोड़ता है । सारी सृष्टि एक-दूसरे से जुड़ी हुई है । यह सूर्य, चंद्र, तारे, ग्रह, नीहारिका आदि सब एक-दूसरे के आकर्षण से बँधे हुए हैं । यदि ऐसा नहीं होता तो विशेष गति से तालमेल नहीं रख पाते ।

योग एक बात समझाता है कि यह समस्त ब्रह्मांड जुड़ा हुआ है, एक है । योग में अनेक रास्ते हैं, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि-आदि...। शरीर के स्तर पर जीवन जीनेवालों के लिये कर्मयोग लाभदायक है, बुद्धि के स्तर पर जीनेवालों के लिये ज्ञान मार्ग अच्छा है, और हृदयप्रधान व्यक्तियों के लिये भक्तिमार्ग अच्छा है क्योंकि भक्ति भाव का मार्ग है ।

परंतु गीता में भगवान कृष्ण ने कर्म और भक्ति से ज्ञान को श्रेष्ठ बताया है, उसके पीछे यह कारण है कि छठे अध्याय में भगवान ने योग की रीत बतायी है । किस प्रकार के आसन से मेरुदंड सीधा रखकर नासिकाग्र पर ध्यान केन्द्रित करके योग किया जाता है । वह एक विशेष प्रकार का योग है जिसका पूरा वर्णन घेरंड संहिता में और पतंजलि योगदर्शन में दिया गया है । जितने भी आसन हैं, वे सब चौरासी लक्ष योनियों का प्रतीक हैं ।

आसन सिद्धि - तीन घंटे तक एक आसन बैठने से आसन सिद्धि होती है। बाहर का वातावरण हमारे मन पर असर डालता है। पवित्र स्पंदनवाले वातावरण में मन सहज स्थिर हो जाता है । इसलिये किसी मंदिर, मठ, तीर्थस्थान आदि में साधना करनी चाहिये ।

महर्षि पतंजलि ने अष्टांगयोग के रूप में वर्णन किया है । अपने साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये यह यम है, दूसरों के साथ व्यवहार नियम है, शरीर शुद्धि के लिये आसन..। अनधिकारियों को योग सिद्धि न मिले इसलिये प्रथम यम, नियम और बाद में तीसरा स्थान है आसन ।

प्राणायाम चौथे स्थान पर है । ऋषियों ने देखा कि प्राण और मन का घनिष्ठ संबंध है । जैसे-जैसे प्राण पर नियंत्रण होता है, वैसे-वैसे मन स्थिर होता जाता है । यह योग की प्रक्रिया है । या दूसरे शब्दों में जैसे-जैसे नाम जप करते-करते मन स्थिर होता है और मन पर नियंत्रण आता है, वैसे-वैसे प्राण भी स्वयं नियंत्रण में आ जाता है । यह भक्ति की, नाम स्मरण या

जप की प्रक्रिया है । इसलिये योगियों के लिये उन्होंने प्राण पर नियंत्रण लाने के लिये प्राणायाम की विविध तकनीक ढूँढ़ीं ।

प्राणायाम में बहुत सावधानी रखनी पड़ती है अन्यथा वह घातक सिद्ध होता है । इसलिये अधिक गरमी में, और अत्यंत ठंड में प्राणायाम नहीं करना चाहिये । वायुमंडल में आर्द्रता कम हो, तो परिणाम ठीक नहीं होगा । शरीर में वायु कुपित है, तो भी प्राणायाम नहीं करना चाहिये, इसलिये इन सब बातों पर ध्यान रखकर किसी योग्य गुरु के मार्गदर्शन में प्राणायाम करना चाहिये । पूरक, कुंभक और रेचक का अनुपात १:४:२ होना चाहिये । ठंडे मौसम में सूर्यभेदी और गरम मौसम में शीतलीकरण प्राणायाम करना चाहिये ।

इड़ा, पिंगला दो सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं, उनमें चंद्र और सूर्य नाड़ी, जो शरीर को ठंडा और गरम करता है । सम स्वर में प्राण को सुषुम्ना में ले जाना है । चितिशक्ति भिन्न-भिन्न चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में पहुँचती है ।

प्रत्याहार जो इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं, उनको अंतर्मुख करना है। इन्द्रियों का आहार बाहर की वस्तुओं का है, वह प्रति-आहार बन जाए, अंदर का हो जाए इसे प्रत्याहार कहते हैं। जो बाहर के स्वाद ले रही हैं, बाहर के नाद सुन रही हैं, बाहर की सुगंध ले रही हैं, वे इन्द्रियाँ अंतर्मुख बनकर अंदर का स्वाद लें, अंदर के नाद सुनें, अंदर की सुगंध लें ।

धारणा दो प्रकार से होती है - बाह्यधारणा और अंतर्धारणा। बाह्यधारणा में पंच तत्त्व में धारणा को दृढ़ किया जाता है । भगवान की मूर्ति, शालिग्राम, शिवलिंग, जल में, वायु में, ज्योति आदि में बाह्य धारणा की जाती है । बाहरी स्वरूप को देखते हुए धारणा को दृढ़ कर सकते हैं । शरीर के भीतर आज्ञाचक्र पर या अन्य कोई स्थान पर धारणा दृढ़ करने को अंतर्धारणा कहा जाता है ।

धारणा दृढ़ होने के बाद ध्यान होता है । ध्यान में चित्त एकरूप हो जाता है । सामान्यतः चित्त के प्रत्यय भिन्न-भिन्न विषयों की ओर सतत बदलते रहते हैं । धारणा में साधक किसी एक विषय पर एकाग्रता करता है । परंतु विक्षेप तो रहते हैं, भले ही साधक उसकी ओर आकर्षित नहीं होता है । पंच तत्त्व पर अपने अंदर अर्थात् आज्ञाचक्र पर धारणा को दृढ़ किया जाता है ।

परंतु ध्यान में अन्य विषयों का बिलकुल अभाव हो जाता है । एक विषय की ओर प्रत्यय की एकतानता सिद्ध होती है, उस अवस्था को ध्यान

कहा जाता है । वहाँ अन्य विषय शून्यता है, परंतु स्वविषय एकाग्रता तो रहती है । स्वकेन्द्रित चेतना का अभाव नहीं होता है ।

समाधि में स्वकेन्द्रित चेतना का भी अभाव हो जाता है। स्वरूपशून्य स्थिति में साधक का प्रवेश होता है। वहाँ ध्याता, ध्येय और ध्यान एक हो जाते हैं, तब समाधि होती है। चित्तवृत्तियों का संपूर्ण निरोध होने से साधक स्व स्वरूप में तदाकार हो जाता है, जीव शिव में लीन हो जाता है, बिन्दु सिन्धु में विलीन हो जाता है । समाधि के भी अनेक स्वरूप और अवस्थाएँ हैं, जिसका महर्षि पतंजलि ने विस्तृत वर्णन किया है । घेरंड संहिता में भी विस्तृत वर्णन आया है ।

समाधि अवस्था को भी योगसूत्रों ने अंतिम अवस्था नहीं माना है । अंतिम अवस्था तो कैवल्य अवस्था है, सहज समाधि की अवस्था है, जिसमें सिद्ध पुरुष नित्य अवस्थित रहते हैं ।

मध्यकाल में बहुत योगियों ने योग साधना करके सिद्धि प्राप्त की । परंतु वैष्णव संतों ने ईश्वर प्रणिधान को अधिक महत्त्व दिया । इसलिये परमात्मा की शरणागति के साथ योग साधना करने का आग्रह रखा । उदाहरणार्थ श्री स्वामी रामानंदाचार्य भगवान, जिन्होंने अलौकिक सिद्धि प्राप्त की और समाज और संस्कृति को संरक्षण प्रदान किया । परंतु अपने बल से मत्स्येन्द्रनाथ ने योग साधना की, जो साधना पथ से भटक गये । जिनको उनके शिष्य गोरक्षनाथ ने बचाया था ।

स्वामी जी योग साधना को उपासना और शरणागति के साथ करने का आग्रह रखते हैं । क्योंकि चौबीस घंटे में हमारा मन कभी सतोगुण प्रधान होता है, कभी रजोगुण प्रधान होता है, कभी तमोगुण प्रधान होता है । इसलिये मन की स्थिति देखकर साधना करनी चाहिये ।

तमोगुण और रजोगुण में योग साधना का कोई महत्त्व नहीं रह जाता । चित्त में चंचलता होने पर प्राणायाम करके भी मन को स्थिर नहीं कर पाते । चौबीस घंटे में केवल ध्यान ही न हो, केवल योग ही न हो, केवल साधना ही न हो । गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं - *युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु । युक्त स्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा ।।* दुःखों को दूर करनेवाला योगयुक्त चेष्टा से ही हो सकता है। युक्त आहार, विहार, कर्म चेष्टा, निंद्रा, जागना, भोजन आदि को युक्त रीति से करना चाहिये ।

गृहस्थ आश्रम चारों आश्रमों का आधार है । उनको धन उपार्जन के लिये समय देना पड़ता है । नीतिपूर्वक धन उपार्जन करना चाहिये । गृहस्थ

भी योगी हो सकता है । महाराज जनक ने गृहस्थ आश्रम में ही योग की उच्चतम अवस्था प्राप्त की थी । महर्षि याज्ञवल्क्य जी की कृपा से कठिन योग साधना गुरुकुल में रहकर की । चार आश्रमों की यह व्यवस्था बहुत उत्तम थी । क्योंकि गुरुकुल में व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करते हुए जीवनयापन करना सीख जाता था ।

शरीर में भिन्न-भिन्न ग्रंथियाँ होती हैं, जो भिन्न-भिन्न समय और संयोग पर क्रियान्वित होती हैं। उदाहरणार्थ क्रोध में पित्त बढ़ता है, शरीर काँपने लगता है, नेत्र लाल हो जाते हैं, मस्तिष्क की नसें फटने लगती हैं, उस समय शरीर में विषयुक्त स्राव उत्पन्न होता है । जब व्यक्ति प्रेम से भरता है, तब अमृतयुक्त स्राव उत्पन्न होता है । मीरा जी को विष दिये जाने पर भी उसका असर नहीं हुआ क्योंकि वह कृष्ण प्रेम और विश्वास में इतनी डूबी हुई थीं, कि शरीर में उत्पन्न अमृत ने विष का असर होने ही नहीं दिया । नाना प्रकार की चिंताओं से भी विष उत्पन्न होता है ।

योग साधना द्वारा किस समय किस ग्रंथि को किस प्रकार जाग्रत करके लाभ लिया जाता है, वह सिखाया जाता है । चित्तवृत्तियों का निरोध किस प्रकार किया जाता है, वह भी सिखाया जाता है । भारत की प्राचीन संस्कृति बहुत उत्तम थी । गुरुकुल में ब्रह्मचर्य का पालन करते गृहस्थ आश्रम में किस प्रकार जीवन जीना चाहिये, यह सिखाया जाता था ।

गुरुकुल के बाद गुरु आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके संतान उत्पन्न करते हुए भी व्यक्ति संतुलित जीवन जी लेता था । भोगों के लिये लालसा या लिप्सा नहीं होती थी । सांसारिक जिम्मेदारियों के साथ-साथ साधना भी कर लेता था । किसी भी परिस्थिति में समत्व धारण कर स्थिर रह सकता था । उसका गृहस्थ जीवन बहुत अच्छा रहता था । आज पाश्चात्य शिक्षा ने भारत की दुर्दशा कर दी है। गृहस्थाश्रम और योग विरोधी नहीं हैं ।

अगर ब्रह्मचर्य आश्रम ठीक है, तो योग साधना ठीक है । नहीं तो स्वाध्याय सत्संग और नाम जप ही श्रेष्ठ माना गया है । आहार विहार सही है, यम नियम का पालन करके योग साधना में प्रवृत्त हो सकते हैं । भगवान ने अर्जुन के सब प्रश्नों का समाधान किया । बाद में अर्जुन ने शरणागति स्वीकार की । संसार की जितनी भी चित्तवृत्तियाँ हैं, वे सब परमात्मा से जुड़ जाती हैं ।

ज्ञानमार्ग में ऊपर से लादा हुआ ज्ञान हानिकारक है । भगवान शंकर शिवसूत्र में कहते हैं – *ज्ञानं बन्धः।* ज्ञान बन्धन करनेवाला है क्योंकि वह ऊपर से लादा गया है। भगवान शंकराचार्य कहते हैं - *ऋते ज्ञानात् मुक्तिः।* सच्चा ज्ञान मुक्ति करता है। इसलिये गीता में ज्ञानियों को श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि जितना ज्ञान पवित्र कर सकता है, उतना कुछ भी नहीं कर सकता । परंतु वह स्वयंस्फुरित होना चाहिये, ऊपर से लादा हुआ नहीं ।

मै ज्ञानी हूँ, बाकी लोग अज्ञानी हैं। मै श्रेष्ठ हूँ , बाकी सब कनिष्ठ हैं.... ये ज्ञान के लक्षण नहीं हैं। योगी हो, ज्ञानी हो, कर्मयोगी हो, अहंकार ही सबको गिराता है । परमात्मा का अवलंबन लेना ही अहंकार का नाश है । शरणागति के साथ योग, कर्म सब अधिक फलप्रद हो जाता है ।

जले थले घाटे बाटे औघटे
निरञ्जन निराकार रक्षा करैं ।
बाघ बाघिनी का करौ मुख काला ।
चौंसठ जोगिनी मारि कुटिका करौ
खेचरी भूचरी क्षेत्र पाला ।

जले थले**.....**जब साधक श्री रामरक्षा सहित साधना पथ पर अग्रसर होता है, तब निरंजन निराकार परमात्मा श्रीराम उनकी जल में, स्थल में, घाट पर, मार्ग में, औघट पर उसकी रक्षा करते हैं, ताकि उसकी साधना में कोई विघ्न न आने पाये ।

बाघ बाघिनी**......**बाघ और बाघिनी हिंसक प्रकृति के जीव हैं । साथ-साथ वे माता जगदंबा का वाहन भी हैं । शेर जंगल का राजा है, हिंसक है, परंतु अकारण हिंसा नहीं करता । वह मात्र क्षुधानिवृत्ति के लिये ही हिंसा करता है । परंतु बाघ अकारण हिंसा करता है और धोखे से मारता है । बाघ बाघिनी का मुख काला करना अर्थात् हिंसक भावों का त्याग करना है । बाघ-बाघिनी का मुख काला करना है अर्थात् हिंसक वृत्तियों का त्याग करना है ।

चौंसठ जोगिनी मारि कुटिका करौ**.......** चौंसठ जोगिनी, माता की सेविकाएँ हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – भूतों को पूजनेवाले भूतों को प्राप्त होते हैं । भगवान को पूजनेवाले भगवान को प्राप्त होते हैं । वैसे ये सब देवी-देवता परमात्मा के तेज से अस्तित्व में आये हैं, उनमें परमात्मा की सत्ता और शक्ति कार्य करते हैं । परंतु भगवान को न पूज के उन देवी-देवताओं को पूजना जिस प्रकार अज्ञान के कारण होता है, या किसी

लालचवश होता है, उसी प्रकार आद्यशक्ति के बदले चौंसठ जोगिनियों को नहीं पूजना चाहिये अर्थात् अज्ञान का नाश करना चाहिये ।

जब साधक साधना करते हुए उच्च स्थिति को प्राप्त करता है, तब उसे यह समझ आती है, स्पष्ट दिखाई देता है, कि अनेक रूपों में एक परमात्मा की ही सत्ता व्याप्त है । *एक ही साधे सब सधे, सब साधे सब जाय* । परंतु गीता में भगवान यह भी कहते है, कि ज्ञानी-महापुरुष अज्ञानियों को परमात्मा की किसी भी रूप में उपासना करने को नहीं रोकते । चाहे वह भूत हो, चाहे प्रेत हो, चाहे यक्ष हो, चाहे चौंसठ जोगिनी हो । क्योंकि ज्ञान न होने से वे न तो परमात्मा की उपासना करेंगे और जो कर रहे है वे भी छोड़ देंगे । किसी तरह से परमात्मा के किसी रूप से जुड़े रहें, यही महापुरुष चाहते हैं अर्थात् अज्ञान को मार हटाओ और परमात्म पथ पर आगे बढ़ो ।

खेचरी भूचरी**.....**खेचरी अर्थात् आकाश में चरनेवाली और भूचरी अर्थात् जमीन पर विचरनेवाली शक्तियों तथा क्षेत्रपाल को नमन करना चाहिये । हम जिस भी क्षेत्र में रहकर साधना करते हैं, वहाँ का कोई-न-कोई रक्षक होता है, जिसे वहाँ का क्षेत्रपाल कहते हैं अर्थात् जितने भी देवी-देवता है, जिन-जिन को परमात्मा ने बड़ाई दी है, जिन-जिन को भाँति-भाँति की सत्ता प्रदान की है, उन्हें पूजना चाहिये ।

शासकीय कर्मचारी जिस प्रकार सत्ता के कारण पूजनीय होते हैं, सम्माननीय होते हैं, उनकी सत्ता के कारण उनका आदेश पालन करना पड़ता है । यद्यपि उनका अपना कुछ भी नहीं है । इसी प्रकार जितने भी देवी-देवता हैं, उनकी सत्ता का भी सम्मान करना चाहिये । ***जो बड़ होत सो राम बड़ाई*** । सब में रामजी की सत्ता को देखते हुए सबका पूजन करना चाहिये, जिस से साधना में वे शक्तियाँ सहायक बनें, बाधक न बनें ।

अखिल ब्रह्मांड तिहुँलोक दोहाई फिरै ।
अलख पुरुष निरञ्जन निराकार के
चक्र सो बाढ़ बांध्यो ।

अखिल ब्रह्मांड में, तीनों लोक में परम पुरुष परमात्मा की दोहाई फिरती है अर्थात् उनकी ही एकमात्र सत्ता व्याप्त है यह अनुभव होता है । अलख अर्थात् जिसके विषय में कुछ लख नहीं सकते अर्थात् देख नहीं सकते, वह अलख पुरुष, जो निरंजन है, निराकार है, उनका बहुत भयानक चक्र है कालचक्र । *लव निमेष परमाणु जुग बरस कलप सर चंड* । *भजसि न*

मन तेहि राम को कालु जासु कोदंड ॥...... लव, निमेष परमाणु, युग, ये सब परमात्मा श्रीराम के सर और चाप हैं, धनुष और बाण हैं । कालरूपी धनुष पर समय का बाण चढ़ाकर भगवान अपने भक्तों का दुःख दूर करते हैं ।

निराकार परमात्मा का जो कालचक्र है, उससे बाढ़ बांध्यो, अर्थात् अधिकता को रोक दिया । काल के बुरे असर से बचा लिया । ***अति सर्वत्र वर्जयेत्*** । अगर विन्ध्याचल बढ़ने लगे, परेशानी है । नदी में बाढ़ आयी, परेशानी है । सर्वत्र अति दुःखदायी है । परंतु मानव मध्य में कभी नहीं जी सकता । वह अति में ही जीता है । या तो भूत में या तो भविष्य में जीता है । जब मानव वर्तमान में जीना सीख ले, तब उसकी सारी परेशानियों का अंत हो जाता है

दृष्टि औ मुष्टि छल छिद्र में, बीर बैताल में,
नवग्रह अवधूत में......भूत पाखण्ड टार्‌यो ।

दृष्टि अर्थात् कुदृष्टि और मुष्टि, यह एक विशेष प्रकार का प्रयोग है, जिससे घात और आघात पहुँचाये जाते हैं । छल और छिद्र में साधक परेशान नहीं होता । उस पर कोई कुदृष्टि नहीं होती और कोई मुष्टि का, मारण का तांत्रिक प्रयोग भी नहीं हो सकता । साधक के साथ कोई छल नहीं कर सकता । क्योंकि प्रकृति – परमात्मा सदैव उसका रक्षण करते हैं ।

बीर बैताल, नवग्रह, भूत, पाखंड के कुप्रभाव को साधक श्री अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र के पाठ से दूर कर देता है । टाल सकता है ।

पंथ में घोर में सोर में चोर में देश में परदेश में
राज के तेज में अग्नि की ज्वाला में नदी की लहर में
साँकरे पैठ श्रीराम रक्षा करैं ।

रास्ते में, जहाँ कभी भी कोई आपत्ति आ जाती है, वहाँ श्री अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र साधक की रक्षा करता है । घोर में - भयानक परिस्थिति में, सोर में - कोलाहल में, चोर में - कोई वस्तु यदि चोरी होती है, तो वहाँ भी साधक की हर प्रकार से रक्षा करता है । देश में, परदेश में, राज के तेज अर्थात् राजा के कोप से, अग्नि की ज्वाला में, नदी की लहर में, किसी भी प्रकार की विषम परिस्थिति में, सब जगह अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र का त्रिकाल पाठ करनेवालों की श्रीराम जी रक्षा करते हैं ।

एक घटना का उल्लेख यहाँ करना आवश्यक है । जब अंग्रेजों का शासन था, तब अमृतसर के पास वैष्णव विरक्त संतों की एक जमात पहुँची । ठंडी का समय था । बहुत ठंड पड़ रही थी । बाबाओं के पास कुछ था नहीं। पास में ही किसी अंग्रेज अधिकारी की लकड़ी की बग्गी रखी हुई थी । बाबाओं ने उस लकड़ी की बग्गी को जलाकर रात्रि में ताप लिया और ठंड उड़ायी । सुबह होने पर अंग्रेज अधिकारी ने तलाश की, तो पता चला कि बाबाओं ने उसकी बग्गी को जला दिया है ।

वह अत्यंत क्रोधित हुआ । अपनी टूटी-फूटी भाषा में बाबाओं को अपशब्द कहने लगा और कहा, कि उनको तापना ही है, तो दस ट्रक लकड़ी मँगाओ और बीच में बाबा को बिठा दो, ताकि तपते ही रहें !

अधिकारी का आदेश पालन किया गया। दस ट्रक लकड़ी आ गयी । एक वरिष्ठ महात्मा ने अग्नि में बैठना स्वीकार किया । चारों तरफ लकड़ियाँ रखी गयीं, वे बीच में बैठ गये। वे अध्यात्म रामरक्षा का पाठ करते रहे और शंखनाद करते रहे। पूरे सात दिन तक लकड़ी जलती रहीं । परंतु अग्नि की ज्वाला महात्मा की रक्षा करती रही और उनको कुछ भी नहीं हुआ । यह प्रताप है अध्यात्म रामरक्षा के पाठ का ।

सन्त के शीश पर हाथ धरै रहैं
चरण और शीश लो आप रक्षा करैं ।

जिनके अंदर संतत्व प्रगट हुआ है, जो संत प्रकृति के व्यक्ति हैं, यहाँ संत का अर्थ वेश से नहीं है, उनके सिर पर भगवान का हाथ रहता है और चरण से लेकर सिर तक परमात्मा उसकी रक्षा करते हैं। भक्तों का, संतों का न्याय भगवान स्वयं करते हैं। अपने आश्रित भक्तों की रक्षा करते हैं ।

भगवान श्रीराम विभीषण को कहते हैं – " तुम सारिखे संत प्रिय मोरे । मुझे तुम जैसे संत ही प्रिय है । " विभीषण ने कोई संत वेश थोड़े ही पहना था ? वे तो राजसी वेश में रहते थे और भक्ति करते हुए अपना कर्तव्य निभा रहे थे । इस प्रकार जो व्यक्ति निष्कपट रहते हुए, नीति और मर्यादाओं का पालन करते हुए अपना कर्तव्य निभाये और परमात्मा की संपूर्ण शरणागतिपूर्वक भक्ति करे, वे सब भगवान की दृष्टि में संत ही माने जाते हैं ।

गुप्त का जाप लै गुप्त साधैं

चन्द्र और सूर्य दोउ एक घर में करैं ।

चन्द्र और सूर्य दोनों को एक घर में करके, अर्थात् इड़ा और पिंगला को मध्य में सुषुम्ना में करके गुप्त जाप जपा जाता है जिससे गुप्त सध जाता है, परमात्म तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है । परमात्म तत्त्व ही सबसे अधिक गुप्त लगता है । वैसे वह वास्तव में गुप्त है नहीं, परंतु अति कठिन साधना पथ होने से वह साधक को गुप्त लगता है ।

साधक गुप्त का जाप जपता है, अर्थात् साधन भी गुप्त और सिद्धि भी गुप्त रखता है । सच्चा साधक सिद्धियों के चक्कर में पड़कर लोकैषणा की तृप्ति करना नहीं चाहता ।

जीतिया संग्राम देवाधिदेव, कमलदल शुद्ध किया
उलटि कर अमृत पिया ।

महा अजय संसार रिपु, जीत सकै सो वीर - गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, कामनारूपी महाशत्रु को जीतना बड़ा विकट कार्य है । भगवान श्रीराम कहते हैं, यह परिवर्तनशील संसार है, उसको जीतना दुर्गम है । अहंता और ममता के द्वारा बनाया गया जो संसार है, वह जीतना अति दुष्कर है । इस परिवर्तनशील आधिभौतिक जगत के पीछे जो आधिदैविक शक्तियाँ हैं, जो देवाधिदेव हैं, उनकी सहायता से कमलदल अर्थात् जितने भी चक्र हैं उनको साधना से शुद्ध किया गया।

चक्रों को कमल की उपमा दी जाती है । कुण्डलिनी जाग्रत होने पर वह सहस्रार की ओर गति करती है । मार्ग में सप्त चक्रों का भेदन और शुद्धीकरण करते हुए वह आगे बढ़ती है ।

जब वह विशुद्ध चक्र पर पहुँचती है, तब वहाँ चंद्रमंडल से जो अमृत टपकता है, जिसको साधारणतः सब नष्ट कर देते हैं, उसे नष्ट न होने देकर उसे पी लिया अर्थात् उसका सदुपयोग किया । ऊर्जारूपी जो अमृत को हम सब व्यर्थ की बातों में नष्ट कर देते हैं, उसे साधना द्वारा ऊर्ध्व करते हुए सहस्रार तक पहुँचा दिया ।

नाभि में, मणिपुर चक्र में सूर्य और तालुमूल में, विशुद्ध चक्र में चन्द्र है । सहस्रार में सुधा का, पीयूष का नित्य प्रवाह होता रहता है । सामान्यतः तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जो सोमकला जल द्रवित होता है, उसे नाभि प्रदेश में स्थित अनलात्मक सूर्य पी जाता है । जैसे राहु सूर्य को ग्रस लेता है,

वैसे ही अमृत को सूर्य ग्रस लेता है । सूर्य द्वारा अमृतपान कर लेने से जीव की मृत्यु हो जाती है । सूर्य नीचे है और चन्द्र ऊपर है ।

यदि विपरीत क्रम में सूर्य को ऊपर और चन्द्र को नीचे कर दिया जाए तो इस मुद्रा को विपरीतकरणी मुद्रा कहा जाता है । इसके द्वारा अमृत सूर्य को (कुण्डलिनी को, त्रिकोणमय अग्नि को) प्राप्त न होकर स्वयं साधक को प्राप्त होने लगता है । इसे पीकर साधक अमर हो जाता है । वह अणिमादिक सिद्धियों का स्वामी बनता है ।

कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर वह सभी चक्रों को शुद्ध करती हुई सहस्रार में पहुँचती है । सहस्रार चक्र का आकार कमलदल जैसा है । वह सहस्रार को भी शुद्ध कर देती है और सहस्रार में चन्द्रमा के द्वारा निःस्रत होनेवाला अमृत, जो अभी तक नाभि में स्थित अग्निबीज – सूर्य निगल जाता था, वह साधक को मिल जाता है । सहस्रार उलटा होने से वह अमृत साधक पी लेता है और अमर हो जाता है ।

विषाद सब दूरि भागे कमल दल ज्योति ज्वाला जलै
भँवर गुंजार आकाश लागै।

जितने भी विषाद हैं, वे सब दूर हो जाते हैं, प्रत्येक कमल पर, प्रत्येक चक्र पर निर्धूम ज्योति की ज्वाला प्रगट हो जाती है । योगी भगवान के विशेष अनुराग में रँग जाता है, इसलिये जब साधना में आगे बढ़ता है, तब चितिशक्ति, कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर आकाश में भ्रमर जिस प्रकार गुंजन करता है, उसी प्रकार का नाद करती है ।

रुद्र नाड़ी त्वचा रक्त, व्योम सोषन्त, उच्चरन्त बानी
गर्जन्त गगन, बाजन्त बयन ।

स्वामी रामानंद जी ' ज्ञान गुदड़ी ' में रुद्र नाड़ी सुषुम्ना को ही कहते हैं। साधना करने पर त्वचा ताँबे जैसी रक्त हो जाती है। आकाश का शोषण होता है, गगन गर्जने लगता है, बाजे के नाद बजने लगते हैं और विविध बानी का उच्चार होने लगता है, दिव्य वाणी प्रगट हो जाती है । शब्द का उद्भव परावाणी के रूप में होता है । पश्यंती और मध्यमा के रूप में बाद में परिवर्तित होता है, जिसे हरेक व्यक्ति नहीं समझ सकते ।

शंख शब्द ध्वनि सुनि त्रिकुटि शिखर बीच,
दास रामानन्द ब्रह्म चीन्हों, सोंई निज तत्त्व ब्रह्मज्ञानी ।

शंखध्वनि अर्थात् साधना का सर्वोच्च शिखर..। जिस प्रकार पूजन के अंत में शंखध्वनि होती है, उसी प्रकार साधना के अंतिम शिखर पर पहुँचनेवालों को शंखध्वनि सुनाई देती है । त्रिकुटि- अर्थात् गंगा, यमुना, सरस्वती, - इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना की त्रिवेणी का जहाँ संगम होता है, उस त्रिकुटि शिखर के बीच शंखध्वनि को सुनकर स्वामी श्री रामानन्द दास ने ब्रह्म तत्त्व की प्राप्ति की ।

सन्तों में दास शब्द का प्रयोग करते हैं ।

सुषुम्ना नाड़ी मेरुदंड के शीर्ष भाग पर दो भागों में विभाजित हो जाती है । एक भाग तो पूर्व मार्ग कहा जाता है, जो विशुद्ध चक्र से आज्ञा चक्र और वहाँ से सहस्रार तक पहुँच जाता है । दूसरा पश्चिममार्ग सीधा ही सहस्रार में पहुँचता है । इस पश्चिम मार्ग में त्रिकुट चक्र है । यह मार्ग कठिन परंतु योगियों के लिये श्रेष्ठ माना जाता है ।

इति श्री अध्यात्म रामरक्षा पठन्ते सुनन्ते उच्चरन्ते
राजद्वारे संग्रामे शत्रुसंकटे रक्षा भवेत् ।

अब स्वामी जी श्री अध्यात्म रामरक्षास्तोत्र पाठ की फलश्रुति का वर्णन करते हैं । जो भी व्यक्ति यह अध्यात्म रामरक्षा को पढ़ते हैं, सुनते हैं, कहते हैं, उनकी रक्षा राज द्वारे, (उस समय राज मुस्लिमों का था – जब राजद्वार पर जाना पड़ता था, तो लोग बहुत भयभीत हो जाते थे। उस समय राजद्वार पर रक्षा का महत्त्व बहुत अधिक था) संग्रामे (बार बार संग्राम – युद्ध होते रहते थे, उस समय रक्षा की बहुत आवश्यकता थी) तथा शत्रु - आध्यात्मिक और आधिभौतिक - दोनों शत्रुओं से रक्षा हो जाती है ।

श्री स्वामी रामानन्द रामरक्षा विचारते
जीवजन्तु उद्धारते पुनरपि जन्म न विद्यते ।

(स्वामी जी के द्वारा नहीं, परंतु उनके अनुयायियों ने कहा है । शिष्यों का कहना है कि) स्वामी जी रामरक्षा का पाठ करते हैं क्योंकि वे अनेक जीवों का, जन्तुओं का उद्धार करना चाहते हैं । स्वामी जी के अध्यात्म रामरक्षा के पाठ से उनका जन्म-मृत्यु का चक्कर मिट जाता है । प्रत्येक देवी-देवताओं की आयु है, भले ही हम सबसे बहुत लंबी है, परंतु उनकी भी मृत्यु है । परंतु स्वामी जी कहते हैं कि जो साधक अध्यात्म

रामरक्षा का त्रिकाल पाठ करता है, उनको जन्म-मरण का दुःख लंबे समय तक भुगतना नहीं पड़ता । उनका उद्धार हो ही जाता है ।

श्री रामचन्द्रजी उच्चरते सीता लक्ष्मण सुनन्ते,
हनुमानजी कण्ठ करन्ते, मन स्थिर रहन्ते,
मोक्ष मुक्ति फल लभन्ते ।

जब श्री परमात्मा श्रीराम स्वयं बोलते हैं, तब माता सीता और भ्राता लक्ष्मण उसे सुनते हैं । परम भक्त श्री हनुमान जी उसे कंठस्थ कर लेते हैं, क्योंकि श्री हनुमान जी जहाँ कहीं भगवान श्री राम का नाम सुनते हैं, वहीं स्थिर हो जाते हैं । श्री अध्यात्म रामरक्षा से मन स्थिर रहता है और मोक्ष या मुक्ति, जो भी साधक कामना करता है, उसे अवश्यमेव प्राप्त हो जाता है ।

प्रातःकाले मध्याह्ने सन्ध्याकाले पठन्ते
रामरक्षा फल प्राप्ते ।

स्वामी जी साधक को विश्वास दिलाते हैं कि इस आध्यात्मिक रामरक्षा का पाठ प्रातःकाल, मध्याह्न और संध्याकाल, इस प्रकार त्रिकाल संध्या करते हैं, उसकी परमात्मा श्रीरामजी अवश्य रक्षा करते हैं ।

इति श्री अध्यात्मरामरक्षास्तोत्रम् ।

अब यह श्री अध्यात्म रामरक्षा का पाठ संपूर्ण होता है।

हरिः ॐ । श्री गुरुभ्यो नमः । हरिः ॐ ।

जय श्रीराम

जगद्गुरु श्री स्वामी रामानन्द जी

Sahasrara

Agnya

Vishuddhi

Heart

Nabhi

Void

Swadisthan

Kundalini

Mooladhara